मील के पत्थर

—हृदयस्पर्शी रेखाचित्र तथा संस्मरण—

रामवृक्ष बेनीपुरी





१९५७
सत्साहित्य प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल,
नई दिल्ली

पहली बार १९५७
मूल्य
दो रुपये

मुद्रक
हिन्दी प्रिन्टिंग प्रेस,
दिल्ली

प्रकाशकीय

प्रस्तुत सग्रह में हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक वन्धुवर रामवृक्ष वेनीपुरी के कुछ चुने हुए रेखाचित्र एव सस्मरण दिये गए हैं। इन रचनाओ को पढकर पाठक देखेंगे कि लेखक की दृष्टि कितनी पैनी हे और कैसे-कैसे सूक्ष्म चित्र उपस्थित करती है। जहातक शैली का सम्बन्ध है, लेखक का अपना स्थान हे। छोटे-छोटे वाक्यो तथा भाव-भरे शब्दो के प्रयोग से वह भाषा मे ऐसी जान डाल देते है कि पाठक पढकर मुग्ध रह जाता है। कही-कही तो उनके वाक्य विना क्रिया-पद के ही चलते है, पर ऐसा प्रतीत होता हे, मानो भाव उसमे छल-छला रहे हो। उन जैसे शैलीकार हिन्दी-जगत में कम ही हैं।

इस पुस्तक मे भारतीय नेताओ एव चितको के सस्मरण तो पढ़ने को मिलेंगे ही, साथ ही अन्य अनेक देशो के महापुरुषो के भी। जौहरी यह नहीं देखता कि हीरा कहा पड़ा है। वह उसे पहचानते ही तत्काल उठा लेता है। लेखक को जहा भी चरित्र की उत्कृष्टता दीख पडी है, उसपर प्रकाश डाला है और इस प्रकार अपनी रचनाओ को उन्होने न केवल सुपाठ्य वनाया है, अपितु शिक्षाप्रद भी।

हमें विश्वास है कि यह सग्रह पाठको को वहुत प्रिय लगेगा। हम चाहते हैं कि अन्य भाषाओ मे भी इनका अनुवाद हो जिससे अधिक-से-अधिक भारतीय पाठक इस उत्तम पुस्तक का रसास्वादन कर सकें।

—मत्री

विषय-सूची



मील के पत्थर

मील के पत्थर

: १ :

बापू की कुटिया में

बापू, यहाँ तुम्हारी इस कुटिया मे, तुम्हारे पायताने बैठकर, ये कुछ पक्तियाॅ लिख रहा हूँ ।

जबतक तुम यहाॅ थे, मे नही आया। यह मेरा दुर्भाग्य था या सौभाग्य ? दुर्भाग्य तो था ही, क्योकि जिसके आदेश पर अपने जीवन के प्रवाह को मोड दिया, जिसकी आज्ञा पर बार-बार अपनेको सकटो मे डाला और सबसे बढकर जिस विश्ववंद्य व्यक्ति के दर्शन के लिए दूर-दूर देशो के लोग आते रहे—उसकी जिन्दगी मे, उसके आवासस्थान पर पहुँचकर, उसकी चरण-रज से अपने मस्तक को धन्य न बना सका, यह दुर्भाग्य नही तो क्या है ? फिर बापू, तुमने तो अपनी चरणधूलि से मेरे छोटे-से गाॅव को भी एक दिन पवित्र किया था। अत यह स्वभावत ही उचित था कि जब तुम यहाँ थे, मै आता और तुम्हारे दर्शनो से, तुम्हारे चरणस्पर्श से अपने जीवन को कृतकृत्य करता । पर, यह सब नही हो सका, नही हो सका ।

किन्तु, देखता हूँ, और आज यहाॅ प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा हूँ— आदमी का दुर्भाग्य भी कभी-कभी सौभाग्य बन जाता है। लगता है, "देर आयद दुरुस्त आयद" की कहावत बहुत ही सच है । यदि मै उन दिनो जाता तो क्या मे तुम्हारे बिस्तरे के इतना निकट, इतनी देर के लिए, स्थान पा सकता था ? उस शात एकान्त में, अकेले-अकेले इस कुटिया से इतना तादात्म्य प्राप्त करने मे सफल हो सकता था ? अरे, तुम्हारे पायताने बैठकर अपनी लेखनी को इस तरह सार्थक करने का सौभाग्य उन दिनो क्या खाकर, किस पुरातन पुण्य-बल से, पा सकता था ?

उन दिनो जो अधिक-से-अधिक हो पाता, वह यह होता कि तुम्हारे

बिस्तरे से सटी, बाँस के डंडे से बनी, उस खिडकी से, बस, तुम्हारी एक झलक मात्र प्राप्त कर सकता, या अधिक-से-अधिक इस दरवाजे से आकर तुम्हे प्रणाम करता हुआ उस दरवाजे से निकल जाता !

तुम्हारा यह बिस्तरा—खजूर की चटाई पर एक गद्दा डालकर और उसे खादी से ढँककर बनाया गया यह श्वेत-शुभ्र बिस्तरा। बापू ! लगता है, तुम अभी-अभी यहाँ से कुछ देर के लिए बाहर गये हो और अभी-अभी उस हृदयहारी मुस्कान के साथ पधारोगे। तुम्हारा वह बिस्तरा, तुम्हारा वह तकिया, तुम्हारी वह तुलसी की माला, तुम्हारा वह प्यारा चरखा—सब-के-सब यही तो कह रहे हैं—तुम अभी, गये हो अभी आओगे।

किन्तु नही, इस कुटिया के दाहिने द्वार के निकट जो यह घडी और खडाऊँ की जोडी है, वह कहती है—अरे, तुम किस भ्रम मे हो। बापू क्या हमें छोडकर कभी बाहर निकलते थे ? वह बाहर कही नही गये हैं ! तो क्या बापू यहीं हैं ? कहाँ है, बताओ, ओ बिस्तरे, हमारे सारे राष्ट्र के बापू कहाँ है ?

बिस्तरा नही बोलता, किन्तु सेल्फ पर रखे बापू के तीनो चीनी बन्दर तो इशारे से कह रहे हैं—आँखे बन्द करो, जबान बन्द करो, कान बन्द करो—अपनेको आत्मस्थ करो, फिर देखोगे, बापू यही है।

और सचमुच पा रहा हूँ, बापू, तुम कहीं गये नही, यही हो, इसी बिस्तरे पर, उस तकिये के सहारे, बैठे हो। हाँ—हाँ, इस शात एकान्त में, जहाँ सिर्फ पडुको की 'कू-कू' या रहट की 'चर्र-चू' ही सुनाई पड़ती है, मैं इस सारी कुटिया को बापूमय पा रहा हूं।

गाधी मर गया, बापू चल बसे—कह लो, सुन लो। यदि आँखें हो, हिये की आँखें, तो पाओगे, बापू यहाँ विद्यमान है।

देखिये, बापू वह अपने बिस्तरे पर बैठे अपने यरवदा-चक्र को घुमा रहे हैं। अभी कुछ देर पहले उन्होने सामने रखे कलमदान मे कलम निकालकर कुछ लिखा है। और अब जरा हट जाइये, थके-मादे बापू हाथ में तुलसी की माला लिये अपने सामने की दीवार मे मिट्टी की उभाड़ से [illegible] दो नारियल के वृक्षो के बीच गेरू मे लिखे ॐ को निर्निमेष निहार रहे हैं। और, उस ॐ के ऊपर क्या है ?—हे राम !

हे राम ! आह, कल्पनालोक से उठाकर मै किस कठोर चट्टान पर पटक दिया गया ! हे राम!—इस शब्द ने कहा—नही, बापू अब हमारे बीच नही रहे ! वह तो हमसे कब के छीन लिये गये !—उस दिन, जब गोलियो के तीन भयानक धडाको के बीच, दुनिया ने अंतिम बार उनके मुख से "हे राम" सुना था !

"जनम-जनम मुनि जतन कराहीं।
अन्त राम कहि आवत नाहीं ॥"

उस दिन ससार ने पाया था, ऋषियो की परम्परा टूटी नही है, बल्कि उसमें नई ज्योति की एक नई कडी जुड गई है। काश, यह ज्ञान उस अज्ञानी को हो पाता, जिसने हिन्दुत्व के नाम पर इतना बडा अनर्थ किया !

किन्तु, यह तो मेरा दावा है ही कि वह हमसे सिर्फ बापू का नश्वर शरीर छीन सका। जो नश्वर है, उसे नष्ट होना ही था—एक-न-एक दिन, कभी-न-कभी। किंतु बापू अमर है। अपने दिव्य रूप मे वह सिर्फ यहा ही विद्यमान नही है, यत्र-तत्र-सर्वत्र उनकी सत्ता और महत्ता व्याप्त है और तबतक व्याप्त रहेगी जबतक आकाश मे चाद, सूरज, तारे है और पृथ्वी पर उद्भिज, अडज, पिंडज है।

ओ सवा हाथ चौडे और चार हाथ लम्बे बिस्तरे ! इस सादगी मे भी तुम कितने महान हो, क्या इसका अहसास तुम्हे कभी होता है ? अरे, तुम्हे देखकर कितने रत्न-जडित स्वर्ण-सिहासन भी ईर्ष्या से जलते होगे। क्या कभी उनपर एक क्षण को भी उतना बडा आदमी बैठा होगा, जितने बडे आदमी को कितने ही दिनो, महीनो, वर्षो तक तुम्हे अपने ऊपर आसीन करने का गौरव प्राप्त हो सका ?

यह गौरवशाली बिस्तरा ! जिसके सिरहाने दीवार से सटी काठ की तख्ती, जिसकी कठोरता को कम करने के लिए उतना ही बडा तकिया। थक जाने पर बापू उसी तकिये के सहारे बैठते। बिस्तरे के दाहिने—बापू की कुछ आवश्यक वस्तुएँ। पत्तो का बना वह टोकरा, जिसमे वह रद्दी कागज-पत्रो को डाल दिया करते। आज भी उसमे कुछ ऐसे कागज-पत्र है। उसीकी बगल मे एक बोतल, जिसमें बापू के पीने के लिए ताजा पानी रखा जाता। बोतल की बाजू मे, दीवार से सटा, पीतल का थूकदान,

जिसे वापू स्वय साफ करते। कलमदान, जिसपर अव भी उनकी लेखनी रखी है। यह जादू-भरी लेखनी—इसने अपनी नोक से न जाने कितने लोगो के प्राणो को उद्वेलित किया ? एक स्टैंड पर एक पेंसिल। फिर वह यरवदा-चक्र, जिसके चक्कर से ही सारा भारत नाचने लगा, ठीक उसी तरह जिस तरह कृष्ण की वशी से गोपिया नाचने लगी थी!—अपनेको भूलकर, कुल-परिवार को भूलकर, सारे ससार को भूलकर! उससे सटे कताई के कुछ फुटकर सामान—पूनी, तात आदि। फिर तीन खानो का एक छोटा-सा सेल्फ।

वापू को समझने के लिए इस छोटे-से सेल्फ को भलीभाति देखना ही होगा—इसमे वापू का सारा मानस-ससार समाया है। सबसे पहले इसके ऊपर एक कूट की दफ्ती पर टँगी, बडी अच्छी लिखी, लारिमर की इस सूक्ति को पढिए—

"When you are in the right, you afford to keep your temper. And when you are in the wrong, you cannot afford to lose it.

—G. C. Larimar.

हा, गुस्सा होने के लिए, क्रोध करने के लिए, तुम्हारे लिए कभी गुजाइश नही है! यदि सच्ची राह पर हो तो उसकी जरूरत ही नही, यदि गलत राह पर हो, तो फिर किस विरते पर, किस मुह से, आख लाल-पीली करोगे !

सेल्फ के ऊपर पत्थर का एक टुकडा, योंही ऊवड-खावड, कही से उठा लाया गया। यह वापू के लिए पेपरवेट का काम करता था। नीचे के दो खानो में वापू की किताबे। पहले खाने मे—(१) सार्थ गुजराती जोड़नी कोश, (२) Rethinking Christianity, (३) हजरत ईसा और ईसाई धर्म और (४) श्रीमद्भगवद्गीता। दूसरे खाने में—(१) रामचरितमानस, (२) श्रीस्वास्थ्य-वृत्ति, (३) आश्रमभजनावली और (४) गीता आणि गीताई। किताबो के खानो के आगे एक आलमूनियम का डब्बा, जिसमें सूत आदि। फिर, वे तीन सुप्रसिद्ध चीनी वदर, जिन्होंने इतिहास में स्थान पा लिया है। लगता है, ये तीनो वदर इस सूने वाता-

वरण से घवरा उठे हैं। नही, जैसे एक ने वापू की मृत्यु की खवर सुनकर अपने कान सदा के लिए वद कर लिये हैं, एक आखो को तलहथियो से छिपाकर रो रहा है और एक अपने मुह पर हाथ रखकर कह रहा है—अरे, अव हम-तुम क्या वोलेंगे ? जिसे वोलना था, वह तो इस कुटिया को, इस विस्तरे को, खाली करके सदा के लिए चला गया।

तीन वदरो की वगल मे चिकने पत्थर का एक खुशनुमा टुकडा, जिस पर लिखा है—God is Love (प्रेम ही भगवान है), फिर, एक चित्रकारी की हुई डिविया, जिसमें दो-तीन फुटकर चीजे।

सेल्फ के निचले खाने मे कुछ पत्थर के टुकडे भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार के। ये सव पेपरवेट के काम आते थे। फिर विहार मे प्रचलित कीए के आकार का एक ढक्कनदार वरतन।

विस्तरे के दूसरी ओर तीन छोटे-छोटे डेस्क, जिन्हे वह शायद लिखने के समय व्यवहार में लाते थे। डेस्को के वाद, खभे से सटी चटाई पर एक छोटा-सा कालीन, जिसपर दीवार से लगा एक तकिया। यही मान्य अतिथि वैठाये जाते और वे वापू से घुल-मिलकर वाते करते। फिर सारे घर मे चटाइयाँ-ही-चटाइयाँ।

खजूर की ये चटाइयाँ कितनी भाग्यशालिनी रही है! इन्हीपर देश-विदेश के वडे-वडे व्यक्ति वैठते और वापू के मुख से निकले वचनामृत का पान करते। वापू अपने चक्र को घुमाते हुए उनमे वाते करते जाते। यो काम के साथ वात को मिलाकर मानो हमे सदा चेतावनी देते—देखो, समय वर्वाद मत करो। तुम्हारी वाते भी तुम्हारे कर्म के चक्र को कभी नही रोक सकेंगी। जिन चटाइयो पर कभी नेहरू, राजेन्द्रप्रसाद, पटेल के समान देश के वडे-से-वडे लोग और ससार के वडे-से-वडे राजनीतिज्ञ, पत्रकार, साहित्यिक वैठते थे, उनपर आज इस दुपहरिया में अकेला मैं वैठा हू—इस वात की कल्पना भी भाव-मुग्ध कर रही है।

किन्तु इन चटाइयो पर वैठना खाडे की धार पर वैठना था, क्योकि इन चटाइयो के ऊपर एक दफ्ती पर वह क्या लिखा हुआ टगा है ? उसे पढिये—

"The issue of lying is in deception, not in words : a lie

may be told by silence, by equivocation, by the accent on syllable, by a glance of the eye, attaching a peculiar significance to a sentence, and all these kinds of lies are worse and baser by many degrees than a lie plainly worded."[1]

—Ruskin

बापू की इस कुटिया के तीन भाग हैं। एक भाग यह है, जहा मैं बैठा हूँ, जहा कभी बापू रहते थे। इसके बगल मे, मध्य भाग में, एक कोठरी है, जिसमे एक चौकी पर एक बिस्तरा सिमटा हुआ रखा है। इस कोठरी में, अंतिम दिनो में अमृतकौर रहती थी। बिस्तरा गोल कर वह बाहर गईं कि बीच में ही वह दुर्घटना घटी, बेचारी फिर लौटकर नही आईं।

इसके तीसरे भाग मे बापू का स्नानागार है। कितनी सफाई, कैसी स्वच्छता! बापू अपने कमोड को अपने हाथो कैसा साफ रखते! उसकी सफाई के लिए लकडी का ब्रुश है, फिनाइल की शीशी है। कमोड के आगे, उससे सटा एक सेल्फ है, जिसमे पहले कुछ किताबें रहती। बापू शौच के समय भी पढा करते। कमरे मे पानी की बाल्टिया, लोटे, मिट्टी के हडे आदि हैं। इस भाग के दो हिस्से हैं। एक मे शौच और स्नान के ये सामान हैं। दूसरे में एक चौकी है, कुछ तख्ते हैं—बापू के शरीर में यही तेल की मालिश की जाती थी।

बापू की कुटिया की एक-एक वस्तु को अपलक दृष्टि से देख रहा हूँ और लिख रहा हूँ। बांस और लकडी की बनाई हुई यह कुटिया; ऊपर खपरैल। दीवारें बांस की फट्टियो की हैं, जिनपर चटाइयाँ लगाकर ऊपर से मिट्टी से पोत दिया गया है। कही भी चूना या किसी रंग का प्रयोग नही किया गया है। दरवाजे और खिड़किया काफी हैं—हवा और

---

[1] "झूठ शब्दों में निहित नहीं है, छल करने में है। चुप्पी साधकर भी झूठ बोला जा सकता है। दोहरे अर्थ वाले शब्दो के प्रयोग द्वारा, किसी शब्दांश पर जोर देकर, आंख के संकेत से और किसी वाक्य को विशेष महत्व देकर भी झूठ का प्रयोग होता है। वस्तुतः इस प्रकार का मिथ्या प्रयोग साफ शब्दों में बोले गए झूठ की अपेक्षा कई गुना बुरा है।

रोशनी की कमी नही ।

बापू, तुम चले गये । यह सदमा हमने, सारे राष्ट्र ने किसी तरह सह ही लिया । किन्तु जब यह सोचता हूँ कि बास, काठ और चटाई से बनी यह कुटिया आठ-दस वर्षो के बाद नही रहने पायगी—लाख चेष्टा करने पर भी समय का कीट इसे चाट जायगा, इस कुटिया की जगह यहा शून्यता-ही-शून्यता रहेगी, तब हृदय और भी विचलित हो जाता है । मानव को पूजकर हमे सतोष नही, तो हम उसकी पत्थर की मूर्ति बनाकर पूजते और सन्तोष कर लेते है, किन्तु उससे सम्बद्ध खर-पात से कैसी ममता हो जाती है कि, हम मान लेते है, इसकी पूर्ति तो हो नही सकती।

हा, नही हो सकती । कैसा भी सगमरमर क्या, सोने का मन्दिर भी एक दिन तुम यहा बनवा लो, इस कुटिया की क्षतिपूर्ति वे कर नही सकेगे । इच्छा होती है, मै जोर देकर यह कहू ।

बापू की कुटिया ! क्या कोई ऐसा उपाय नही कि बापू के बाद कम-से-कम तुम्हे तो सदा इसी रूप मे देखने का सौभाग्य पाता रहू। तुम नही बोल रही—तुम्हारा यह नीरव मौन कितना असह्य लग रहा है ! काश, तुम समझ पाती, ओ बापू की कुटिया !

× × ×

और बापू, जब तुम्हारी इस कुटिया मे, तुम्हारे विस्तरे के पायताने बैठकर यह लिख रहा हूँ, तुम्हारी कितनी मूर्त्तियाँ आँखो के सामने आकर मँडरा रही है !

उनमे से चार मूर्त्तियाँ तो मेरे जीवन से ऐसी लिपटी है कि क्या आजीवन उनसे अपनेको मुक्त कर पाऊँगा ?

पहली मूर्त्ति—जब मै किशोर ही था । देहात से आया था, शहर में पढने । शुरू से ही राष्ट्रीयता की ओर झुकाव । तुमने दक्षिण अफ्रीका मे जो कुछ किया था, पढ चुका था । तुम उन दिनो कर्मवीर गाधी के नाम से हिन्दी-ससार में अभिहित थे । एक दिन मै अपने स्कूल मे पढने जा रहा था कि शहर के एक राष्ट्रकर्मी से भेंट हो गई । वह मेरी प्रवृत्तियो को जानते थे । बोले, कर्मवीर गाधी इसी ट्रेन से चम्पारन जा रहे है । क्या उनके दर्शन नही करोगे ?

स्कूल की ओर से स्टेशन की ओर मेरी दिशा बदल गई । स्टेशन पहुँचकर उस थर्ड क्लास के डब्बे की ओर बढा, जिसमें तुम सफर कर रहे थे ।

आज भी याद है बापू, तुम्हारे दर्शनो के लिए मेरे मन मे कैसा तूफान उठ रहा था, पैर डगमगा रहे थे, कलेजा धडधड कर रहा था । मै तुम्हे देखूँगा—कैसे होगे तुम ? तुम—कर्मवीर गाधी ! तुम्हारे कई चित्र देखे थे, किन्तु क्या चित्र सही रूप दे पाते है ? उन चित्रो मे दो चित्र प्रमुख थे एक, जब तुम एक ढीला कुर्ता पहने, कधे से एक झोला लटकाये, हाथ में डडा लिए सत्याग्रह के लिए प्रस्थान कर रहे हो । दूसरा, तुम्हारे बदन मे मिर्जई, सिर पर काठियावाडी मुरेठा—ढीला-ढाला । मै जल्दी-जल्दी उस डब्बे के निकट पहुँचा, जिसके दरवाजे पर कुछ लोग खडे थे । हाँ, कुछ ही लोग ! मै एक खिडकी के निकट खडा होकर भीतर झाँकने लगा—कितनी उत्सुकता से, कितनी व्यग्रता से !

किन्तु तुम कहाँ हो ? उन दोनो तस्वीरो के आधार पर एक-एक चेहरे को देख रहा हू, किन्तु कहाँ पा रहा हूँ ? एक सज्जन दीखे, गोरे-भभूके, काफी कद्दावर, चेहरे से रौब टपक रहा ! हाँ—हाँ, यही गाँधीजी होगे । जो इतना बडा आदमी है, जिसने कितने कमाल किये है, जो कर्म-वीर है, जो अकेला नीलहे गोरो से लडने चम्पारन जा रहा है—उसे तो ऐसा ही तेजस्वी, रौबदार, भारीभरकम होना चाहिए ! किन्तु, उन चित्रों से जरा भी समता तो इस व्यक्ति में नही मिलती !

मै इसी तरह परेशान था कि वह सज्जन मेरे निकट आये और बोले—गाधीजी को देख लिया ? "जी···" मेरे मुँह मे पूरी बात भी नही निकली । उन्होने बताया, वह, जो उस रौबदार आदमी के आगे के बेंच पर बैठे है, वही गाधीजी है ।

बापू, तुम्हारी वह सूरत आज भी याद है ! रूखा-सूखा तुम्हारा चेहरा, जिसपर सबसे प्रमुख वे दोनों कान !—जैसे ससार के सारे दुख-दर्द सुनने को व्याकुल । सिर पर वह टोपी—जो पीछे चलकर अपने सुधरे रूप में गाधी-टोपी के शुभ नाम से अभिहित हुई । शरीर मे पतले कागज [illegible]ना कुर्ता—सुन्दरे कपडे का । कमर मे घुटनो तक की धोती और पैर

मे चप्पल ! तुम्हारे हाथ मे उर्दू की एक प्रारम्भिक पुस्तिका थी, जिसे तुम पढ रहे थे और कुछ कठिनाई होती तो मुस्कराकर उस रौबदार चेहरे-वाले को दिखाते और पूछ लेते । उसी सज्जन ने बताया, वह रौबदार चेहरेवाले सज्जन मौलाना मजरउल हक थे । उन दिनो तक तुम्हारे पैर छूने का रिवाज नही चला था, तो भी क्या मेरा मन बार-बार उनके छूने को नही ललकता था !

उसके पाच साल बाद १९२१ मे तुम्हे देखा । असहयोग का बिगुल फूकते तुम मुजफ्फरपुर पहुँचे थे । ओहो, कैसी भीड उमडी थी तुम्हारे दर्शनो के लिए ! दर्शनार्थियो ने तुम्हारे पैर छू-छूकर उन्हे घायल कर दिया था ! तुम्हे निकट से देखूँ, इसके लिए मैने स्वयसेवको मे नाम लिखा लिया था । तुम मना कर रहे थे, हम लोगो को हटा रहे थे, किन्तु उस पागल भीड को कौन रोके ! तुम्हारी वेशभूषा में अधिक परिवर्तन नही हुआ था । हाँ, कपडे और भी खुरदरे हो चले थे ! किन्तु, ज्योही तुम मुँह खोलते, लगता, ज्वालामुखी ने मुँह खोला है—एक-एक शब्द, क्राति के शोले ! तुम खुले आम सरकार को "शैतानी सरकार" कहते थे ! इससे सब प्रकार का सहयोग हटाने के लिए जनता को ललकारते थे और एक साल के अन्दर ही स्वराज्य स्थापित कर लेने की घोषणा करते थे । उन दिनो लाउडस्पीकर कहा था ? किन्तु उस तरगित जन-समुद्र मे भी तुम्हारी आवाज कोने-कोने मे पहुँचती थी !

तीसरी बार तुम्हे अत्यन्त निकट से देखा, १९३४ मे, जब तुम भूकम्प से तबाह और बर्बाद मेरे गाँव मे गये थे ! बाढ के कारण पहले से ध्वस्त-पस्त वह गाव—पेड सूख गये, पशु मर गये, मलेरिया से जनसख्या आधी हो गई । उसपर भूकम्प ने जैसे उसकी कमर ही तोड दी । तुम मेरे गाव मे गये, नाव पर चढकर उस विपैली झील को देखा । नाव पर जाते हुए तुमने मल्लाह से कहा, "जरा मिट्टी दिखाओ ।" उसने नाव की लकडी से मिट्टी निकालकर तुम्हे दिखलाई, तुमने उस मिट्टी को हाथ में लिया, अच्छी तरह देखा, फिर बोले—"इस मिट्टी में तो सोना पैदा हो सकता है!" और लो, तुम्हारा वचन सार्थक हुआ । दूसरे साल से ही वहा कितनी अच्छी फसल आने लगी !

उस समय तुम्हारा वह वेश स्थायी वन चुका था—कमर मे घुटनो तक की धोती जिसके ऊपर घडी लटक रही। वदन पर चादर। किन्तु तुम्हारे चेहरे पर कितना तेज! मेरे बूढे चाचा ने चौदह साल वाद तुम्हे देखकर कहा था—हो, गाधीजी त दिन-दिन जुआन भेल जाइछथुन! हाँ, १९२१ की अपेक्षा तुम कही अधिक स्वस्थ और तेजोमय दीख पडते थे!

और अन्तिम मूर्त्ति तुम्हारी वह, जव हिन्दू-मुस्लिम-दगो के वाद तुम विहार आये थे! पटना के मैदान में तुम्हारा प्रवचन होता था। यो मै अलग-अलग से तुम्हे देख आता था, तुम्हारे प्रवचन सुन लिया करता था। किन्तु उस दिन एक मित्र ने मुझे पकडकर मच पर विठला दिया। तुम निकट ही वैठे थे, प्रार्थना शुरू हुई। लडकियो ने रामधुन और भजन शुरू किया। तुम ध्यानस्थ हो गये—ऐसे कि लगता था, किसी कलाकार द्वारा गढी कांसे की सुघड मूर्त्ति यहाँ स्थापित की गई हो। शरीर मे जरा भी कपन, स्पदन कहाँ? मै तुम्हारे चेहरे को गौर से देख रहा था। उसी समय न जाने कहाँ से एक मच्छर आ गया और वह वार-वार तुम्हे डसने लगा। जव-जव वह डसता, तुम धीरे-से हाथ उठाते और इस नबुक से उसे हटाते कि कही उस वेचारे को चोट न लग जाय! ओहो, वापू, एक तुच्छ मच्छर पर भी ऐसी ममता—तुच्छ मच्छर पर, दुष्ट मच्छर पर! किन्तु वह अपनी दुष्टता क्यो छोडे! सयोग से मेरा मझला वच्चा साथ था। उससे यह नहीं देखा गया, एक पखा लेकर तुम पर झलने लगा, मच्छर भाग गया।

किन्तु जव लडकियाँ भजन गाने लगी, वार-वार तुम थोड़ा सिहर उठते! वे कुछ वेसुरा गा रही थी! यह सिहरन उस वेसुरेपन पर! नही-नही, जव भजन समाप्त हुआ, तुमने पूछ ही लिया—क्यो, वेसुरा हो गई थी, तुम! कौन कहता है, वापू, कि तुम कलामर्मज्ञ नही थे? यों तो मैं तुम्हे कलाकार ही मानता आया हूँ! सादगी में कला क्या होती है—तुमने हमें वताया, जो रगो और रूपो के घटाटोप को ही कला मानते आये थे!

तुम्हारी ये चारो मूर्त्तियां—कर्मवीर मूर्त्ति, शान्तिमूर्त्ति, त्रातामूर्त्ति, [illegible]मूर्त्ति—आज जव मैं तुम्हारे पायताने वैठा हूँ, वार-वार ध्यान

मे आ रही है और जब-जब कल्पना करता हू, अब तुम्हे प्रत्यक्ष नही देख सकू गा, तुम हमे छोडकर चले गये, तो कलेजा मुँह को आता है, आखे छलछला उठती है, कलम आगे बढना नही चाहती ! आह ! क्या सचमुच हम तुम्हे नही देख सकेगे अब ?

अब मै बापू की कुटिया के आँगन मे आ बैठा हूँ। निस्सन्देह बापू भी कभी-कभी यहा आकर बैठते होगे।

इस आगन के तीन तरफ छोटे-छोटे पेड है। कहा जाता है, इन पेडो मे से अधिकाश को बापू ने अपने हाथो से लगाया था। इन सब पेडो मे सबसे बडा, सघन और सजीला लगता है एक पीपल का पेड, जिसे बापू के हाथो से लगाये जाने का निश्चित सौभाग्य प्राप्त है। यह पेड, इस कुटिया के सदर दरवाजे पर प्रहरी-सा खडा है। एक पीपल का पेड था, जिसकी छाया ने सिद्धार्थ गौतम को बुद्धत्व दिया और एक यह पीपल है, जिसने अपनी छाया आधुनिक बुद्ध से प्राप्त की है। बापू ने इसे रोपा था, सीचा था, बडे लाड-प्यार से इसे बडा किया था। बुद्ध-गया के उस पेड से इसकी समता देने मे शायद कुछ लोगो को एतराज हो, किन्तु मेरी कल्पना की आँखे देख रही है, समय के प्रवाह के साथ वृद्धि पाती हुई इसकी डालियो की तरह ही इसकी गरिमा और महिमा बढती जायगी और एक दिन आयगा, जब भारत शाति-सदेश के रूप मे इसकी डालिया ससार के कोने-कोने मे भेजने का लोभ सवरण नही कर सकेगा।

आगन के उत्तर की ओर क्रमश ये पेड है—नीम, हरसिंगार, एक अज्ञात फूल का पेड और फिर नीम। पहले नीम के पेड से सटा एक गुलाब का झाड है और एक बेले का। मुझे बताया गया है, यहाँ बापू ने गुलाब के बहुत-से झाड लगाये थे, वे अच्छे फूल भी देते थे, किन्तु, जब ससार का चलता-फिरता गुलाब चला गया, तो फिर वे गुलाब क्यो न सूख जाय, झड पडे ? हा गुलाब का यह एकाकी झाड, अपनी सारी श्री और शोभा खोकर भी उस बीते हुए वसत की याद दिला रहा है। हाँ, उन फूलो की जगह अब सूरन के कुछ सुकुमार पौधे अपनी हरीतिमा से मन को अवश्य मुग्ध कर रहे है।

पश्चिम ओर की पात मे पेडो का क्रम यो है—बेल, हरसिगार, नीम,

एक अज्ञात वृक्ष, नीम, फिर हर्रसिंगार और इन सबका शृ गार वह पीपल का पेड । शरद ऋतु है, सभी पेडो के पत्ते धुले-पुछे हैं । हर्रसिंगार के पेडो से रह-रहकर फूल चू पड़ते हैं । उस अज्ञात नाम पेड पर गिलहरी की एक जोडी ऊधम मचाये हुई है । अभी एक जोड़ा पडुक उडता हुआ आया, नीम के पेड़ पर बैठा और फिर, शायद मुझ अपरिचित को देख-कर, फुर्र से उड गया ।

दक्षिण ओर हर्रसिंगार, आम और अशोक की त्रयी । वार-वार सोचता हू, इन तीन पेडो का यह सयोग आकस्मिक हुआ, या वापू ने कुछ सोच-समझकर भारतीय वृक्षो के इन तीन शिरोमणियो को यहा एकत्र किया था—एक में फूल-फूल, एक मे फल-फल और एक में पत्ती-पत्ती । एक में गध-गध, एक मे रस-रस, एक में रूप-रूप । और. रूप, रस, गध मे ही तो ससार की सारी नियामते सन्निहित है ।

वापू की इस कुटिया के सामने, पूरव की ओर एक कुटिया है, जिसमे वापू के निकटतम अतिथि आकर ठहरते थे । जव आचार्य नरेन्द्रदेवजी दमे से सख्त पीडित थे, वापू ने उन्हे लाकर यही टिकाया था । उन्ही दिनो इगलेंड से क्रिप्स-मिशन आया था । वापू दिल्ली गये, किन्तु तुरन्त वापस लौटे । प्रेस-प्रतिनिधियो ने पूछा—आप थोडा और क्यो नही ठहर जाते ? वापू ने कहा था—कोई डाक्टर अपने रोगी को किस तरह छोड सकता है ? वापू अतिथिनवाज थे ।

इस कुटिया के उत्तर की तरफ महादेवभाई की कुटिया है । काफी वडी है वह कुटिया । वह सपरिवार रहने थे । उस कुटिया से वापू की कुटिया तक आने के लिए एक पगडडी है । उसी पगडंडी से महादेव-भाई आते और प्राय वापू भी वहा जाते । अव पगडडी पर घास उग आई है । जव जानेवाले जाते रहे, तव फिर यह पगडडी अपना मुँह क्यों न छिपा ले ?

दक्षिण तरफ वा की कुटिया है—पूजनीया वा की । जव उस कुटिया के भीतर घूम रहा था, वार-वार वा की महिमा हृदय में खिल उठती थी । उस भोली-भाली अपढ स्त्री ने, न जाने किस पुण्य-प्रताप से, वापू-सा पति-रत्न प्राप्त किया था ! राम की सीता की तरह वापू की वा भी इतिहास

का एक अमर चरित बन गई हैं । इसमे सन्देह की कोई गु जाइश नही है ।

अभी कल एक भाई ने वर्धा में बा के सबध मे एक अत्यन्त मनोहर कहानी सुनाई । बापू के जन्म-दिवस के अवसर एक सज्जन उनके पास अन्य उपहार-सामग्रियो के साथ एक साडी भी लाये । साडी देखकर बापू ने हँसते हुए कहा—"क्या अब मुझे साडी भी पहननी पडेगी?" सब लोग हँस पडे। उस सज्जन ने कहा—"यह बा के लिए है ।" "तो इसे बा के जन्म-दिन पर देना चाहिए था"—बापू ने फिर हँसते हुए कहा और फिर बोले—"लेकिन उस बेचारी को तो यह मालूम नही कि उसका जन्म-दिन कौन-सा है ।" बा भी वही थी, कुछ झेप गई । फिर बापू ने कहा—"किन्तु, तुम हो मुझसे बडी, इसमें तो कोई शक ही नही ।" इतना कहकर वह जोरो से खिलखिला पडे और सारी कुटिया हँसी से ओत-प्रोत हो गई ।

बा उम्र मे बापू से बडी थी या छोटी, इसका निर्णय उन दोनो के सिवा कौन कर सकता था ? किन्तु, जिस तरह छाया कभी-कभी मनुष्य से भी बडी हो जाती है, उसी तरह नारी-आदर्श की दृष्टि से बा का चरित बहुत ही महान् था, इसे तो बापू ने भी कई बार स्वीकार किया था ।

बा की कुटिया मे एक चित्र है । बापू बाहर से थके-हारे आये हैं और कुर्सी पर बैठ गये हैं और बा पानी लेकर उनके पैर पखार रही हैं । यही भारतीय नारी है । ओ सभ्यता के चकाचौध मे भूली हुई हमारी बहनो ! तुम उन्हे गँवार कह लो, किन्तु भारतीय इतिहास ऐसी ही नारियो के चरित्र-चित्रण से पूत-पवित्र है ।

बा की कुटिया के सामने खुला मैदान है। वही बापू की प्रार्थना होती थी । कीचड और धूल से बचने के लिए मैदान में छोटे-छोटे चिकने ककड़ डाल दिये गए हैं । मैदान के बीच लकडी के दो खूटे हैं । मुझे आश्चर्य हुआ, यह क्या है ? पता चला, प्रार्थना के समय इन्ही खूटो से लगा कर एक चौडा तकिया रख लिया जाता था । और बापू उसीके सहारे बैठते थे ।

बा की कुटिया के बगल में रसोई-घर है । उससे थोडा हटकर ईंट

का एक डार्क-रूम है, जिसे बापू ने कनुगांधी के लिए फोटो तैयार करने को बनवा दिया था। बापू की कुटिया के आगे एक और कुटिया है, जो पहले अतिथि-निवास था; किन्तु अब आखिरी-निवास कहलाता है, क्योंकि सेवाग्राम छोड़ने के पहले बापू ने इसी घर में विश्राम किया था। अब इस घर मे विनोबाजी आकर ठहरते हैं। अपने भूदान-यज्ञ के सिलसिले में इसे छोडने के पहले उन्होंने उसके बगल के खेत में कुछ केले लगाये थे। उनके पेड अब बढकर जवान हो गए हैं। कितने हरे-भरे और सुहावने लगते हैं।

आज न बापू है, न बा हैं, न महादेवभाई हैं। अतिथिशाला, आखिरी-निवास, सब सूने-सूने है। किन्तु ऋषियो को खोकर भी तीर्थ-स्थान अपना महत्व नही खो सके, और न यह स्थान ही अपना महत्व खो सकेगा; बल्कि ज्यो-ज्यो समय बीतता जायगा, उसके कण-कण महत्व प्राप्त करते जायगे।

बापू की इस कुटिया के चारो ओर कुटियो की एक पूरी बस्ती ही बस गई है। फूल-फल ,पेड-पौधों की भरमार है। सचमुच लगता है—ऋषियो की तपोभूमि बहुत-कुछ ऐसी ही होगी। धन्य थी वह घडी, जब बापू अपनी लकुटी लिये इस स्थान पर पहले-पहल पधारे ! जो सदियो का सेगाँव था, वह सेवाग्राम मे परिणत हो गया !

अभी-अभी भोजन-घर में भोजन करने गया था। वहा भारत के कोने-कोने का प्रतिनिधित्व करने वाले नाना तरह के चेहरो के दर्शन हुए—स्त्री, पुरुष, बच्चे, बूढे, जवान। लगभग एक दर्जन विदेशी भाई-बहनें भी पीढियो पर बैठकर खा रहे थे। आर्यनायकम्‌जी से पूछने पर पता चला, वे लोग भिन्न-भिन्न देशों से आये हैं और, ऐसे लोगो का तांता लगा ही रहता है। आज जब वर्धा से आ रहा था, देखा, दो गोरे नौजवान, भ्रमणार्थियों के थैले पीठ पर बाँधे, यहाँ से लौट रहे हैं। उन्होंने हमें देखते ही भारतीय ढंग से नमस्कार किया। ये विदेशी भाई-बहनें भी भारतीय ढग से ही रोटियो को हाथ से तोड-तोडकर खा रहे थे।

दर्शक-पुस्तिका में देख आया हू—तरह-तरह की लिपिया, तरह-तरह की लिखावटें, तरह-तरह की भाषाए, तरह-तरह की बातें। एक कवि ने

अग्रेजी मे एक छोटी-सी कविता ही लिख डाली है। उस छोटी-सी कविता मे भी यहा का वातावरण कैसा सजीव हो उठा है!

घडी कहती है—दो घटे बीत चुके। ये दो घटे यहाँ कैसे बीत गये? मन कहता है, अभी कुछ देर ठहरो। कार्य-व्यवस्था कहती है, चलो, हटो यहा से। दूर से पडुक पुकार रहा है—कु कू -कूं, कु कू -कू। अरे अरे, क्या जल्दी पडी है भागने की—क्या तृप्ति मिल गई? और यह लीजिये, पडुक का एक जोडा फिर हरसिंगार की डाल पर आ बैठा। किस चकित दृष्टि से वे मेरी ओर देख रहे हैं? क्या वे कह रहे हैं—यहा बहुत लोग आते है, किन्तु कोई तुम्हारे ऐसा धरना तो नही देता! और, फिर यह कर क्या रहे हो—उजले कागज पर ये क्या काली-काली लकीरे खीचते जा रहे हो? जाओ, हमारे इस एकान्त-राज्य पर यो दखल मत जमाओ—भागो, भागो!

हा भई, भाग रहा हू। जिसे यहाँ सदा रहना था, जब वही एक दिन इसे छोडकर चल दिया, तब मुझ-जैसे पथिक की क्या बिसात, जो यहाँ ठहर सके? जाता हू, ओ पछी के जोडे, जाता हू! तुम यहाँ निर्द्वंद्व उडान भरते रहो, किलोल करते रहो। बापू की इस कुटिया की धूल सर पर चढाते हुए तुम्हारे ही शब्दो मे तुम्हे भी सलाम दे रहा हू—कु कू -कू। कु कू -कू!

: २ :

प्रेमचन्द अमर हों

काशी, कम्पनीवाग के निकट का वह चौराहा। एक साधारण-सा व्यक्ति खडा। कद, पोशाक, खडे होने का ढग—सभी साधारण। सिर खाली। विशुद्ध आर्यत्व की वश-परम्परा सूचक ललाई अभी नही खोई, वैसे अस्त-व्यस्त वाल, हवा के झोके से उड रहे। जिन्दगी की कितनी धूप-छाहो के चिह्न लिए गोरा चेहरा। ललाट में कितनी सीधी रेखाए—गालो पर कितनी सिकुड़ने। बे-तरतीव-सी मूंछे। दाढी मानो कई दिनो से नाई की प्रतीक्षा में। शरीर मे कमीज, जिसके ऊपर के दो वटन खुले हुए। एक हाथ मे छाता। एक हाथ से वह उड-उडकर ललाट से छेडखानी करनेवाले वालो को सम्हालें या विगडैल मूछो को। साफ-सी दीखनेवाली धोती। साधारण-सा ही जूता।

वह उत्सुक आंखो से एक ऐसे इक्के की तलाश मे है, जिसपर सवारी की एक ही जगह वची हो और जो छावनी की ओर जाता हो।

जब भाई शिवपूजनजी ने बताया कि यही है हिन्दी के उपन्यास-सम्राट प्रेमचन्दजी तब मुझे कम आश्चर्य नही हुआ, क्योकि उस समय मैंने साहित्य-क्षेत्र मे प्रवेश किया ही था और इसे सोने और शहद से भरा-पूरा समझ रखा था। उपन्यास सम्राट और इस सीधे-सादे वेश में! यह तो अब समझ रहा हू कि लक्ष्मी और सरस्वती की सौतियाडाहवाली नानी की कहानी में कितना सत्य है!

इसके वाद लगभग दो वर्षो तक प्रेमचन्दजी से प्राय भेट होती। मै 'बालक' के सम्पादन और छपाई के सिलसिले में ज्यादातर काशी ही रहता और प्रेमचन्दजी वही अपना सरस्वती प्रेस चलाते। प्रेस की हालत अच्छी नहीं थी। प्रेमचन्दजी उसे ठिकाने पर लाने के लिए काफी मेह-नत करते। दस बजे दिन से शाम तक जुटे रहते। मेरा खयाल है, किसी अच्छे सहकारी या सेवक के अभाव के कारण अत्यधिक मेहनत

और चिन्ता करने से ही प्रेमचन्द पर मृत्यु का वार इतना जल्द हो सका। सचमुच जब कभी सोचता हू कि प्रेमचन्द जैसे कलाकार को भी तगदस्ती और झझटो से लडाइया करनी पडी, तब अपने साहित्य के विकास की अवस्था का अन्दाजा लगा पाता हू। उफ, अभी हमारे लिए दिल्ली बहुत दूर है!

उस पहली मुलाकात से, करीब-करीब उनकी मृत्यु के कुछ दिनो पहले तक, मेरी उनकी अच्छी जान-पहचान रही, खत-किताबत रही और जब-तब उनके दर्शन भी कर आता।

उनके प्रति मेरे वही भाव थे, जो किसी देवता के प्रति उसके पुजारी के होते हैं। मै उन्हे हिन्दी की साहित्य-कला का साक्षात अवतार मानता और उस कला के एक उपासक की तरह अवतार की मानसिक पूजा करता। यही कारण है कि मैं उनके मित्र की तरह उनके दिल मे बैठकर उन बातो को नही ले पाया, जिनके आधार पर उनके मनस्तत्व की अच्छी-सी तस्वीर खीच सकू। उनके बारे मे मैं ज्यादा-से-ज्यादा जो कह सकता हू, वह यही कि आत्मा से साधारण-सा दीख पडनेवाला वह आदमी, आदमी की हैसियत से भी, साधारण नही था। उसकी इस साधारण-सी सूरत-शकल के अन्दर एक महान् आत्मा छिपी थी। आप उसे गुदडी मे लाल कहो, या मेरी भाषा मे, राख से ढकी चिनगारी कहो। सभी महान पुरुषो की तरह वह सीधा-सादा था, इसीलिए वह सदा झझटो मे रहा, लोगो ने उससे फायदे उठाए, उसे धोखे तक दिए, वरना वह भी एक ठाठ की जिन्दगी वसर करता, दुनिया की नजरे उसकी चकाचौध का लोहा मानती। किन्तु उसके इस सीधेपन मे एक बाकपन भी था, जो सभी असाधारण पुरुषो मे पाया जाता है। इसी बाकपन ने उसे समाज, सरकार और पूंजीवाद से मोर्चे-पर-मोर्चे लेने को प्रेरित किया। उसके हाथ मे कलम थी तो क्या हुआ, वह योद्धा था। जब उसने देखा, समाज उसके प्रेम-सम्बन्ध मे बाधक हो रहा है, उसने उसे जमकर ठोकर लगाई। जब देखा, सरकार अनीति की राह पर बेधडक बढती जा रही है, उसने उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। जब देखा, शुद्ध साहित्य के क्षेत्र मे भी पूजीवाद अपना विषैला प्रभाव जमाए जा

रहा है, उसने उसके खिलाफ युद्ध किया। अपना प्रेस, अपना प्रकाशन। क्या वह इनसे पैसे बटोर कर मालामाल होना चाहता था ? गलत बात। यदि यह कामना उसकी होती तो उसके प्रेस, पत्रिका जौर परिवार को हम किसी दूसरे ही रूप मे देखते। मै ऐसे लोगो को जानता हू, जो रद्दी चीजो का प्रकाशन करके लखपति बन गए। फिर प्रेमचन्द का क्या कहना! किन्तु यहाँ तो उसका बाकपन था—टूट जाय पर मुडे नही, एक अड, एक टेक!

उसकी महानता, उसकी असाधारणता की सबसे बडी सूचक है उसकी कला। हिन्दी-साहित्य की विकास-धारा की दूरी जानने के लिए जो कुछेक 'मील के पत्थर' हमे गिनने पडते हैं, उनमे एक को, जो हमारे सबसे निकट का है, हम प्रेमचन्द के नाम से अभिहित कर सकते हैं। हिन्दी के इतिहास लेखको ने हमारे साहित्य के काल-निर्देश मे मनमाने ढग से काम लिया है, उसकी कोई वैज्ञानिक भित्ति नही। साहित्य हमारे समाज का दर्पण है। सरह से लेकर आजतक का हमारा साहित्य इन दस-बारह सौ वर्षो के हमारे समाज की जीती-जागती तस्वीर है। इसके दरम्यान समाज जिस तरह सोया, जिस तरह करवटे बदली, कभी उठा, कभी फिर चादर तानकर सो गया, ठोकरो ने जिस तरह उसे फिर जगाया और आज वह जिस कशमकश मे है, सबके अलग-अलग चित्र हमारे साहित्य मे भरे पडे हैं। सरह, चन्द, विद्यापति, कबीर, तुलसी सूर, बिहारी, भूषण, हरिश्चन्द्र, प्रेमचन्द—जिस दिन आप अपने साहित्य का काल-विभाग वैज्ञानिक भित्ति पर करेंगे, इन्हीको आधार मानकर आपको चलना पडेगा। सरह—हमारा समाज बौद्ध-धर्म से हटकर तत्रवाद का पूजक है—दुनिया रहस्यमय, सबसे रहस्यमयी नारी। चन्द—बौद्ध-धर्म की प्रतिक्रिया के रूप मे क्षात्रधर्म, किन्तु विलासिता साथ-साथ। विद्यापति—हिन्दूधर्म राज्य मे वचित, विलासिता मे डूबा। कबीर—पराजय को समन्वय में बदलने की चेष्टा। तुलसी—नश्वरता पर भक्ति का पुट। सूर—भक्ति मे शृगार का पुट। बिहारी—शृगार ही शृगार, यानी विलास का घोर दौर-दौरा। भूषण—फिर एक जागरण, किन्तु क्षणिक। हरिश्चन्द्र—एक नई जाति ने नई ठोकरें लगाई, 'जागो, जागो रे भाई'

की पुकार। प्रेमचन्द—हमारे पीडित समाज मे एक नए वर्ग की अगवानी की सूचना। और, चूकि यह नया वर्ग एक बिल्कुल नए समाज के पुनर्गठन की सूचना देता है, अत इनमे भी प्रेमचन्द की महत्ता कही अधिक व्यापक है। सरह से लेकर हरिश्चन्द्र तक यद्यपि कितने ही उत्थान-पतन हुए हैं, तथापि इनका नेतृत्व एक ही वर्ग के हाथ मे रहा है। प्रेम-चन्द की रचनाए एक बिल्कुल नए वर्ग के नेतृत्व का आभास देती हैं। अत, यह भी सम्भव है कि जब कुछ शताब्दी बाद हिन्दी का इतिहास लिखा जाय तो हमारे साहित्य को दो ही भागो मे बाटा जाय—एक वह, जिसका प्रारम्भ सरह से होता है और दूसरा वह, जिसका प्रारम्भ प्रेमचन्द से होता है।

मै जानता हू, कुछ लोग मेरे इस काल-विभाग पर नाक-भौ सिकोडेगे। कुछ लोग कहेगे—प्रेमचन्दजी के बारे मे यह अतिशयोक्ति मैं उनकी मृत्यु-जनित भावुकता के कारण कर रहा हू। मै मानता हू, प्रेमचन्दजी के प्रति मेरी भक्ति भावुकता से खाली नही है। भावुकता को मैं ऐसी बुरी चीज नही मानता कि अपनेको उससे बचाऊ। मै यह भी मानता हू, उनकी मृत्यु ने मुझे बहुत ही मर्माहत किया। किन्तु यह निश्चय जानिए, मेरा उपर्युक्त कथन भावुक भक्त की आवेश-वाणी मात्र नही, उसमे तथ्य है। हा, इस तथ्य को जानने के लिए आपको साहित्य, कला, नीति, आदि को एक नई नजर से देखना-परखना होगा। पर, यह स्थान नही कि उस सबध मे कुछ विस्तार से कह सकू।

सक्षेप मे यो समझिए। हमारे हिन्दी-साहित्य का जन्म उस समय हुआ जब भारत सामन्तशाही युग से गुजर रहा था। सयोगवश देशी सामन्तशाही बहुत बिखरी, ढीलीढाली थी। कुछ विदेशी कबीले इस पर टूटे। दोनो लडे। विदेशियो की विजय हुई। किन्तु जहा उनकी तलवार जीती, वहा हारे हुए लोगो की तहजीब ने उनपर विजय प्राप्त की। तहजीब—सामतशाही तहजीब। कुछ दिनो तक लोगो मे खूब घुटी। पर फिर कशमकश शुरू हुई। इतने मे एक तीसरी शक्ति कूद पडी। वह इन दोनो से मजबूत थी, क्योकि वह उनके युग से गुजरकर आगे के युग मे पैर रख चुकी थी, यानी, यह तीसरी, सामन्तशाही के

वाद के वर्ग, पूजीशाही, का प्रतिनिधित्व करती थी। पूजीशाही जीती, सामतशाही हारी। पूजीशाही के दौरदौरे शुरू हुए। उसने सामतशाही की ठठरी कही-कही भले ही रख छोडी हो, किन्तु उसने उसका सत्त जरा भी नही छोडा। यही नही, इस पूजीशाही का पेट केवल इतने ही से नही भर सकता था, उसने प्रत्यक्ष शोषण शुरू किया, जिसका फल हुआ देश मे ऐसे वर्गों का उदय, जो थे तो अनादिकाल से ही, किन्तु जिनकी ओर हमारा ध्यान ही नही गया था। पूजीशाही जिस प्रकार सामन्तशाही की ही पितृ-भक्त औलाद है, उसी तरह मजूर-किसान-वर्ग पूजीशाही की पितृ-घाती सन्तान है।

अब अपने साहित्य को देखिए। वह आजतक सामन्तशाही को ही केन्द्र-विन्दु मानकर अपना क्रीडा-कौतुक दिखाता रहा। चाहे हम किसी दशरथ राजा के बेटे की गाथा गाए या किसी शाहजी के पुत्र शिवाजी की, शिवसिंह हो या पृथ्वीराज, थे तो एक ही वर्ग के। जयपुर-नरेश हो या कोई अन्य नरेश-महेश, यदि कोई नही मिला तो स्वय बेचारे श्रीकृष्ण तो हैं ही, उन्हीके सिर पर खेल लीजिए। पर इन सबके बीच एक ही वर्ग का सिलसिला है—स्थान, काल, पात्र से थोडे विभेद के अनुसार। किन्तु उस युग का तो खात्मा हो गया। अब तो युग पूजीशाही का है। पूजीशाही का यश गाइए या उसकी विद्रोही सन्तान किसान-मजूर का। यदि आप प्रगतिशील हैं तो आप किसान-मजूर को ही अपना पात्र बनाएगे। प्रेमचन्दजी ने यही किया। यही उनकी कला की सबसे बडी खूबी है, जो उन्हे सदा के लिए अमर रखेगी। इस दृष्टि से देखिए, तभी आपको यथार्थ रूप में मालूम हो सकेगा कि प्रेमचन्दजी कितने महान्, कितने असाधारण थे। आप उन्हे साहित्यिक नवयुग का अग्रदूत मजे मे कह सकते हैं।

और जब आप यह देखेगे कि उस वर्ग के इस प्रथम कलाकार ने ही अपनी कला को कितना मोहक, आकर्षक और रगीन बना पाया, तब तो आपको और भी ताज्जुब होगा। जिन्हे हम गूगा मूक समझते थे, उन्हे उसने जुबान दी, जिन्हे हम अन्धा-सूर समझते थे, उनकी आखो को उसने नूर दिया। झोपडियो की कौन बात, खेत की मेड़ पर

वनी मडैयो तक को उसने बोलना, हँसना, प्यार करना, रोना, सिखलाया। हमारे विविधतापूर्ण समाज की इस निचली तह मे भी विविधता की कमी नही, प्रेमचन्द की कला ने स्पष्ट कर दिया। उनकी कहानिया देखिए, पता चल जायगा। उनकी अन्तिम रचना 'गोदान' के एक-एक पात्र—स्त्री और पुरुष—इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। गरीबो के भी दिल होते हैं, वे भी प्रेम करते हैं, प्रेम के लिए कुर्बानिया करते हैं, उनमे भी सहानुभूति और समवेदना होती है, जो धनिको की सहानुभूति और समवेदना की तरह उथली, केवल ज़ुबान की नही होती। उनमे भी मान और सम्मान का खयाल होता है और उसपर आघात किया जाय तो जान लडा कर भी वे उसकी रक्षा करते हैं। हा, जिन्हे हम नर-ककाल समझते हैं, उनमे भी जोश है, गरम खून है, प्रतिरोध की भावना है, लडने की ताकत है, वलिदान का माद्दा है, इत्यादि बाते आप प्रेमचन्दजी की कला मे भरी पडी पायगे।

प्रेमचन्द उस युग मे हुए, जब हमारा समाज, हमारा देश एक बडे सक्रान्ति काल से गुजर रहा था। बडी-छोटी शक्तिया आपस मे टकरा रही थी, जिनकी टक्कर वायुमण्डल को बेतरह विक्षुब्ध किए हुए थी। कभी एक खास जगह मे एक महाभारत हुआ था। आज तो ऐसे महाभारत, ससार को छोडिए, हमारे देश के कोने-कोने मे हो रहे हैं। इन महाभारतो के सजीव चित्रण के लिए हमे एक वेदव्यास चाहिए था। प्रेमचन्द हमारे इस युग के वेदव्यास थे। 'सेवा-सदन' से 'गोदान' तक पढ जाना, हमारे इस युग के इतिहास को पढ जाना है। वैसा इतिहास, जो तारीखो और व्यक्तियो पर निर्भर न करके, उस अन्तर्धारा का सजीव चित्रण करता है, जो समाज की रीढ है।

उस साधारण झुर्रीदार चेहरे के अन्दर, बेतरतीव मूछ और उभडी-सी भवो के वीच जो मामूली आखे थी, वे कितनी सूक्ष्मदर्शी, पारदर्शी थी, इसका पता तव लगता है जब हम उनके पात्रो पर विचार करते हैं। राजकुमार से लेकर भिखमगो तक, खूख़ार सरहदी से लेकर भोलेभाले किसान तक, खानावदोश जिप्सियो की शोख औरतो से लेकर शत-शत आखो पर नृत्यशील नर्तकियो तक—अजी, केवल मानवो

की क्या बात, घोडो, बैलो तक को उसने अपनी रचनाओ का पात्र बनाया, किन्तु उसका चरित्र-चित्रण कितना सच्चा, कितना स्वाभाविक, कितना सजीव हुआ है ! पूजीपति, जमीदार, किसान, मजदूर, हिन्दू, मुसलमान, क्रिस्तान, बूढा, जवान, बच्चा, खोमचेवाला, कलन्दर, सपेरा, दानी-सूम, राजा-रक, गृहिणी-भिखमगिन, ब्राह्मण-चमार, होली-ईद, अट्टालिका-झोपडी, जो जहा है, अपनी जगह पर है, अपनेपन के साथ है। कही भी अस्वाभाविकता, बनावट का नाम नही। यदि इस दृष्टि से देखिए, तो ससार के कलाकारो मे वह अपनी एक खास जगह रखते हैं।

प्रेमचन्द को, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, केवल कलाकार का नही, एक योद्धा का जीवन भी व्यतीत करता पडा। उनका बहुत-सा समय इस युद्ध मे ही बीता। जब मै उन्हे दस बजे से पाच बजे तक प्रूफ देखते, या प्रेस की दूसरी झझटो को सुलझाते देखता, फिर उनकी रचनाओ को देखता, तो मुझे आश्चर्य होता कि वह कब समय बचाते हैं जो इतना लिख पाते हैं ! उनका ऐसा बहुत कम समय बीता, जब एकमात्र साहित्य-निर्माण ही उनका पेशा रहा हो। कभी स्कूल-मास्टरी, कभी प्रेस-मैनेजरी, कभी सम्पादकी, कभी फिल्म-निर्माता, यो सदा किसी-न-किसी पेशे मे वह जुते रहे। तो भी, यदि उनकी कृतियो को आप परिमाण के खयाल से भी देखिए तो आश्चर्य होगा। मालूम होता है, उनके इस छोटे शरीर का जर्रा-जर्रा साक्षात प्रतिभा था। यो तो उनकी स्वतत्र, मौलिक रचनाए भी आजकल के हमारे किसी साहित्यकार की कृतियो से, परिमाण के खयाल से भी, बाजी मार सकती हैं, फिर यदि हम उसमे उनके द्वारा अनूदित और संकलित ग्रन्थो को भी जोड दें तो वह अनायास ही बेजोड बन जाता है।

प्रेमचन्द अपने उपन्यासो और कहानियो के लिए मशहूर हैं। कुछ लोगो का कहना है कि उपन्यासो की अपेक्षा वह कहानी लिखने मे ज्यादा सफल हुए। ऐसे ही कुछ लोग कहा करते हैं कि उनकी कुछ चीजे बहुत ही शिथिल और उनके नाम के अनुरूप नहीं। पहली बात का जवाब देना फिजूल है। यह तो अपनी-अपनी रुचि की बात है। कोई छोटी चीजें पसन्द करता है, किसीकी तृप्ति बडी चीजो से होती है। एक

बात और भी है। प्रेमचन्द के प्राय सभी उपन्यास समस्यामूलक हैं। हमारी समस्याओ को लेकर उन्हे उनके यथार्थ रूप मे दिखाना, उन समस्याओ से उत्पन्न गुत्थिओ को अलग-अलग करके समझाना और फिर उन गुत्थियो के सुलझाव का अपना एक तरीका पेश करना प्रेमचन्द के प्राय सभी उपन्यासो का यह मूल उद्देश्य है। दृष्टिकोण के भेद से समस्याओ के रूप, फल और सुलझाव के बारे मे भिन्न-भिन्न राये हो सकती हैं। उन रायो की विभिन्नता से उपन्यासकार की प्रतिपादन-प्रणाली पर हमें सहानुभूति या विरक्ति भी हो सकती है। फलत उन उपन्यासो के बारे मे राये भी अलग-अलग हो सकती हैं। किन्तु उपन्यासकार की सफलता उसकी कृतियो के विषय पर निर्भर नही माननी चाहिए। उसकी सफलता की मुख्य कसौटी है चरित्र-चित्रण। 'सुमन' (सेवासदन), 'सूरदास' (रगभूमि) या 'होरी' (गोदान) की जिन्दगी की फिलासफी पर मत जाइए, देखिए, जहा जिस रूप मे इनके कार्य हुए हैं, उनमे अस्वाभाविकता तो नही है। और, इसमे भी एक बात तो खयाल मे रखिए ही कि प्रेमचन्द 'कला कला के लिए' वाले बेसिर-पैर के जीव नही थे, वे आदर्शवादी लेखक थे, अत साधारण कमजोरियो से अपने पात्रो को ऊपर उठाए रखना उनका कर्तव्य था।

अब दूसरी बात पर आइए। उनकी कुछ रचनाए मामूली हैं। मैं भी इस बात को मानता हू। कभी-कभी मुझे भी इस बात पर झिझक हुई है। किन्तु इसमे एक बात याद रखनी है कि प्रेमचन्दजी को किस परिस्थिति मे रहकर ये रचनाए रचनी पडी। एक तरफ जीवन-युद्ध की वह झकझोर, दूसरी ओर आवश्यकताओ की चाबुकबाजी और तीसरी तरफ मानो जले पर नमक, हम और आप जैसे वे लोग जो अपनी पत्र-पत्रिकाओ के नाम और गरिमा को ऊपर उठाए रखने के लिए, मुफ्त लिखने को, तकाजे के मारे उनका नाको दम किए रहते।

प्रेमचन्द की कला, जैसा कि पहले कह चुका हू, हमारे साहित्य के उस क्षेत्र मे प्रवेश करने की सूचना है, जो अबतक अछूता रहा। यदि हम पारिभाषिक शब्दो की शरण लें तो प्रमचन्द हिन्दी के प्रथम जन-साहित्य-निर्माता थे। हमारा साहित्य आज तक जमातो का चरण-चुम्मन

करता रहा, अब वह जनता को अपना जीवन-संगी बनाने जा रहा है। प्रेमचन्द हमारे साहित्य के इस महान् विच्छेद के स्तूप थे। इस बात ने जहा उन्हे साहित्यिक विकास के इतिहास मे एक अनुपम स्थान दे रखा है, वहा इसके चलते उनकी रचनाओ मे एक गडबडझाला भी है, जिसे हम लोग, जो उनके साहित्यिक वशधर हैं, न भूले। स्वभावतः और मुख्यत प्रेमचन्दजी जन-साहित्य के निर्माता थे, किन्तु उनकी रचनाओ में हम सामन्तशाही युग की कुछ अस्फुट झलक भी पाते हैं। ऐसा होना स्वाभाविक भी था। हमारी जनता में अबतक की चेतना उतनी प्रस्फुटित नही हुई है और न हम जनसेवियो का आदर्शवाद ही उतना निखर पाया है कि इसके पूर्व युग के अवशिष्टाश की कोई छाया हम पर न पडे। अत हमारी रचनाओ मे कुछ ऐसा गडबडझाला होना कोई गैरमामूली बात नही। मैंने स्वय प्रेमचन्दजी से इसकी चर्चा की थी। उन्होने अपनी नई रचना 'गोदान' तक प्रतीक्षा करने का मुझे आदेश दिया था। 'गोदान' निस्सन्देह इस दृष्टि से उनकी पूर्व रचनाओ पर तरजीह पाने योग्य है, किन्तु वहा भी वह 'निखार' नही। जो लोग जन-साहित्य के निर्माण मे प्रेमचन्दजी के पद-चिन्हो पर चलनेवाले हैं, उन्हे चाहिए कि अपने उस महान नेता के अधूरे काम को उसके अनिवार्य परिणाम तक पहुचाए।

यहा एक बात की और चर्चा कर देना जरूरी है। वह है भाषा के बारे मे। प्रेमचन्द ने हमे केवल जनता का साहित्य ही नही दिया, वरन् वह साहित्य कैसी भाषा में लिखा जाना चाहिए, उसका भी पथ-निर्देश किया। जनता द्वारा बोले जानेवाले कितने ही शब्दो को, उनकी कुटिया-मड़ैया से घसीटकर वह सरस्वती-मदिर मे लाए और इसी प्रकार कितने ही अनधिकारी शब्दो को, जो केवल बडप्पन का बोझ लिये हमारे सिर पर सवार थे, इस मदिर से निकाल बाहर किया। हमें उस पथ पर भी आगे बढना है।

इसलिए कहता हूँ—प्रेमचन्द अमर हो, अमर हो उनकी भावना, अमर हो उनकी भाषा!

: ३ :

बरनार्ड शॉ : उन्हींके शब्दों में

"सभी आत्मकथाएं झूठी है।"—जिस व्यक्ति ने यह घोषणा बार-बार की, कितने आश्चर्य की बात है, उसीको, विरोधियो द्वारा उत्तेजित किए जाने पर, या मित्रो द्वारा बार-बार आग्रह किए जाने पर, अपने बारे मे इतना कह जाना पड़ा कि यदि उन सबको एकत्र कर दिया जाय, तो एक उच्च श्रेणी की आत्मकथा बन जाय! हाल मे 'सोलह आत्मचित्र' के नाम से उसने एक पुस्तक भी प्रकाशित कराई और फिर बतलाया कि उसने अपनी आत्मकथा क्यो नही लिखी।—"मैंने न किसीकी हत्या की, न कोई अघट घटना मेरे जीवन मे घटी! फिर आत्मकथा मे लिखा क्या जाय? और आत्मकथा को पठनीय होने के लिए कलात्मक तो होना ही चाहिए।" वह मानता है कि सर्वोत्तम आत्मकथा वही है जिसमे आत्म-निवेदन हो, अपने पापो की स्वीकृति हो। किन्तु क्या यह सबके लिए सम्भव है? कोई रूसो, कोई गाधी ही ऐसा कर सकता है। साधारणतया आत्म-निवेदन के नाम पर लोग अपने पापो पर पर्दा ही डालते हैं। अत कोई सिलसिलेवार आत्मकथा लिखने से उसने अपनेको सदा बचाया। 'आत्मचित्र' मे उसने उन बातो पर ही प्रकाश डाला "जो या तो छोड दी गई थी या जिनके बारे मे गलतफहमिया पैदा हो गई थी।"

शॉ यह भी समझता था कि कलाकार आत्मगोपन भी नही कर सकता। मानव और प्रकृति के गहन रहस्यो का उद्घाटन ही जिसका पेशा है, वह अपने बारे मे चुप रहे? असम्भव! वह अपनेको प्रकट करता है, प्रतिदिन, प्रतिक्षण प्रकट करता है, किन्तु आत्मकथा के रूप मे नही, अपनी कृतियो के रूप मे। "मेरे सम्बन्ध मे जो चीजे देने लायक हैं, उन्हे या तो मैंने पुस्तको की अलमारियो मे धर दिया है या रगमचो पर! जो सुनाने लायक थी, सुनाई जा चुकी हैं।" वह ठीक ही पूछता है कि शेक्सपियर से उसका 'हैमलेट' छीन लो और उसके बदले

जन्म की घडी से मृत्युपर्यन्त की एक रगीन तस्वीर वना लो, तो क्या यह पिछला शेक्सपियर पहले शेक्सपियर से ज्यादा आकर्षक और दिलचस्प होगा ?

किन्तु एक विशाल वट-वृक्ष की हरी-हरी पत्तियो, लम्बी-लम्बी जटाओ और मोटी-मोटी डालो को ही देखकर मानव का मन तृप्त नही हो जाता। उसमे उत्कठा जगती है उसकी जडे देखने को—जो इन सबकी आधार हैं। कुदाल चलाना कठिन काम है, वृक्ष को क्षमा मिल जाती है। किन्तु महापुरुप—वह वेचारा ! प्रश्नो की बौछार, फिर झूठी-सही अटकलवाजिया ! चुप वह रहे तो कैसे ? उसे वोलना पडता है, रहस्य खोलना पडता है। इससे भी लोगो ने इसी प्रकार रहस्य खुलवाए। और, यह साहित्य के लिए अच्छा ही हुआ। इस युग का जो सबसे महान् साहित्यिक था, उसके वारे मे हम इतना अधिक जान सके।

ये सामग्रिया जहा-तहा विखरी पडी हैं। उन्हीमे से कुछको चुनकर, सजाकर ये गुलदस्ते वने हैं। देखिए तो—वरनार्ड शॉ को शॉ के ही शब्दो मे।

पालने में

मेरे पहले जीवनी-लेखक मेरे पिता थे, श्री जार्जकार शॉ। साझे मे गल्ले का व्यापार करते। सफल व्यापारी न थे, क्योकि मुल्की हाकिम थे, पेंशन वेचकर यह व्यापार शुरू किया। अधेड होने पर शादी की—तीन वच्चे हुए। आखिरी वच्चा मैं—जार्ज वरनार्ड !

१८५७ की जुलाई मे मेरी मा अपने मैके गई। मैं एक वर्ष का था—वौव कहलाता था ! पिताने मा को पत्रो मे मेरे वारे मे लिखा था—

"१७ जुलाई १८५७. वेचारे के पेट मे रात जोरो का दर्द शुरू हुआ, किन्तु भोर मे वही चपलता, हँसी-खुशी। किसमिस कुछ ज्यादा खा ली थी।

"२० जुलाई : शैतान दिन-दिन वदमाश होता जा रहा है। भोर मे [illegible] की तरह डकराता और हाफता है। ऐसा लगता है, तुम लौटोगी तो

यह दौडकर गली की मोड पर ही तुमसे जा मिलेगा।

"२४ जुलाई बौब ने कल अपने टोप को टुकडे-टुकडे कर दिया।

"२७ जुलाई बौव के लिए नया टोप खरीद दिया गया, १०) लगे। उसका जन्मदिन है न! कुछ ज्यादा खर्च हुए तो क्या! कल बौब अपनी बहन के साथ बिछावन से गिर गया—सिर के बल, किन्तु चोट नही आई।

"रविवार की भोर बौब कुछ देर मेरे साथ बिछावन पर रहा, फिर उसने जलपान किया। एक पछाड आज भी खाई, किन्तु थोडी देर चिल्लाने के बाद फिर हँस रहा है।

"३० जुलाई · बौव की शैतानी बढती जा रही है।

"३ अगस्त बडी निराशा होगी, यदि बौब तुम्हारी चिट्ठी हाथमे लिये मेरे निकट न आ पहुँचे और उससे चिट्ठी लेने मे छीना-झपटी न करनी पडे। इस छोटे-से शैतान ने आज अखबार फाड दिए।

"७ अगस्त धाई कह रही थी, बौब ने दौड-दौडकर उसे थका दिया। वह विना सहायता के भी दौडा-दौडा फिरता है।

"११ अगस्त मगलवार को बेचारा बौब बाल-बाल बचा। वह रसोईघर की टेबल पर बैठा था, धाई भी वहा थी। वह बेचारी फर्श पर से कुछ चीज उठाने गई कि वह धडाम से सिर के बल गिर पडा। उसका सिर शीशे के छेद से होकर लोहे की छड से जा टकराया, किन्तु आश्चर्य कि जरा खरोच भी नही लगी!

"१५ अगस्त बौब के दात जम रहे हैं। बहुत परेशान है—रात-दिन बेचैन।"

लालन-पालन

मेरे साथ बुरा व्यवहार कभी नही किया गया, क्योकि मेरे मा-बाप मे निष्ठुरता का लेश भी न था, लेकिन यह भी सही है कि मेरी चिंता उन्हे नही थी। इसका फल यह हुआ कि मुझमे प्रारम्भ से ही एक भयानक ढग की आत्म-निर्भरता आई और मुझको सपनो के भोज मे भूखा रहने की आदत पड गई। सम्भव है, इससे मेरे विकास मे बाधा

पडी हो और आज भी जो मुझमे विशुद्ध प्यार का अभाव है, इसका कारण यही हो।

रसोईघर मे ही मैं खाना खाता। उवाला हुआ मास मुझे जरा भी पसन्द नही था। अधपके आलू और खूब चाय। चीनी मैं चुरा लेता। मैं भूखा कभी नही रहा। मेरे पिता को अपने वचपन की असह्य भूख की याद थी, इसीलिए वह रोटी और मक्खन प्रचुर मात्रा मे मेरी पहुच की परिधि मे रखवा देते।

नौकरो से मुझे घृणा थी और अपनी मा को मैं वहुत चाहता था। एकाध वार जव यह नायाव मोका आया, उन्होने जो रोटिया मुझे दी उनपर मक्खन की मोटी तह थी। मुझसे वह विलकुल तटस्थ रहती, इसलिए मैं उन्हे देवी समझता और उनके विगाडनेवाले ससर्गों से वचा रहा। जव एकाध वार वह अपने साथ टहलने को ले गई, मैंने अपना सौभाग्य समझा।

एक नौकरानी मुझे टहलाने को ले जाती। समझा तो यह जाता कि वह मुझे नहर-किनारे ले जाती है, या पुरुषो के मुहल्ले मे, किन्तु वह ले जाती गरीवो की वस्तियो मे, जहा उसके दोस्त रहते।...मेरे मन मे गरीवी से घृणा यही से शुरू होती है। गरीवी दूर करने के लिए मैंने जो जीवन न्योछावर किया, इसके मूल मे यही है।

एक रात मेरे पिता मुझे टहलाने ले गए। उस समय मैं उनके घुटने के वरावर था। टहलते समय मेरे मन मे एक विषाक्त शका उत्पन्न हुई। मैं घर आया। माता मे चुपके-चुपके कहा, "मा, पिताजी ने शायद शराव पी ली है।" "वह कव नही पीते।"—मा ने कहा।

वह चुराकर पीते थे। पीते समय भी लज्जा और ग्लानि अनुभव करते, तो भी पीते और जरा भी विरोध किया जाता तो गुस्से मे चीजो को पटक देते, तोड देते। ऐसे आदमी पर रोया जाय, या हँसा जाय? हम लोग हँसी मे ही उडा देते।

मेरी मा न कभी झगडा करती, न शिकायत करती, न बदला चुकाती, न भुनती। तुमने गलती की, तुम अपने रास्ते, मैं अपने रास्ते—मेरी मा की यही मनोवृत्ति थी। वच्चो मे उसे घृणा नही रही। वह न

किसीसे घृणा करती, न प्यार। वह यह भी नही जानती थी कि बच्चे क्या खाते हैं, कैसे रखे जाते हैं। यह सब नौकर पर छोड दिया गया था।

कुछ लोग प्यार दिखाते हुए मेरे सिर को थपथपाते या मुझसे बच्चो की तरह बाते करते। मुझे व्यक्तिगत स्वतत्रता पर यह आघात मालूम होता और इस बनावटीपन पर गुस्सा आता। मुझे याद है कि मै किस तरह ऐसी हरकतो के खिलाफ हो उठता।

जब मै छोटा बच्चा था, रविवार को गिरजाघर मे ले जाया जाता और चुपचाप बैठे रहने की अमानुषिक और मूर्खताभरी प्रथा का शिकार बनाया जाता था। बढिया-से-बढिया कपडा पहनकर उस अघेरे, गदी हवा से भरे घर मे मूर्ति की तरह बैठे रहो, जब बाहर इतनी सुन्दर भोर हो. ऐसा बच्चा यह निर्णय कर ले कि बडा होने पर मै इस घर मे झाकूगा नही, तो आश्चर्य क्या ?

स्कूल की कैद में

मुझे कोई ऐसा समय याद नही, जब कोई छपा हुआ पृष्ठ मेरी समझ मे न आया हो। मेरा विश्वास है, मै पढे-लिखे के रूप मे ही पैदा हुआ था।

मेरी शिक्षिका मुझे और मेरी बहनो को कविताए गाना सिखाती, हम लोग हँस देते। वह मुझे अपनी उन अगुलियो से मारती, जिनसे एक मक्खी भी नही मारी जा सकती। साथ ही यह भी बताती कि ऐसे मौको पर मुझे रोना चाहिए और लज्जा अनुभव करनी चाहिए।

उसने मुझे जोड, घटाव और गुणा तो सिखलाया, किन्तु भाग नही सिखा सकी। भाग मैने स्कूल मे सीखा और सच बात है कि एक यही चीज मैने स्कूल मे सीखी।

जब मै स्कूल मे भर्ती हुआ, मेरे जितना लैटिन व्याकरण कोई लडका नही जानता था, लेकिन जब स्कूल छोडा, तबतक वह भी भूल चुका था।

स्कूल के लिए मै घर पर कोई तैयारी न करता, इतना मै आलसी

था और वहाना वनाने के लिए झूठ वोलने मे मुझे जरा भी शर्म नही आती थी।

मुझमे प्रतियोगिता की भावना ही नही थी। न मै इनाम चाहता, न नाम। इसलिए परीक्षा मे मेरी कोई दिलचस्पी नही थी। अगर मैं जीतता तो अपने साथियो का दुख मुझे खलता और हारता तो मेरे आत्म-सम्मान को चोट लगती।

मैं स्कूल मे कुछ नही सीख सका—यह अच्छा ही हुआ, क्योकि मै मानता हू कि दिमाग पर कोई अप्राकृतिक प्रक्रिया उतनी ही बुरी है, जितनी देह पर। जिस विपय के सीखने की प्रवृत्ति नही हो उसे सिखाना उतना ही वुरा हे जितना आदमी को भूसा खिलाना।

मुझे दुख है कि मै भापाए नही सीख पाया। मैंने कोशिश की और पाया कि साधारण आदमी सस्कृत उससे कम समय मे सीख ले सकता है, जितनी देर मे मैं कोई जर्मन-कोप खरीदू।

मैं उन सवको अभिशाप दूगा जो मेरी पुस्तको को स्कूल के लिए पाठ्य पुस्तके वनाएगे और शेक्सपीयर की ही तरह मुझे वच्चो के लिए घृणा और डर की चीज वना देगे। वच्चो को सताने के लिए मैने नाटक नही लिखे!

स्कूल मे गणित का महत्व हमे नही सिखाया जाता। वीजगणित के 'अ' 'व' को मैं अडा और वटेर समझता और 'म' को शून्य।

चार अको का कोई हिसाव मुझे दीजिए और दीजिए स्लेट और आधा घटे का ममय और ले लीजिए मुझसे गलत जवाव।

चौदह साल की उम्र तक मै इसका सही जवाव नही दे सकता था कि जव डेढ पैसे मे तीन पोठिये मिलती हैं तो ग्यारह पैसे मे कितनी पोठियें मिल सकेंगी।

रेखागणित मुझे कष्ट नही देता।...लेकिन परीक्षा मे समस्याए न पूछकर उन्हे पुस्तको की सरयाओ मे पूछ दिया गया, मै वेतरह फेल हुआ।

वस, साहित्य में ही मेरी प्रतिभा का कुछ परिचय स्कूल में मिला—लेख लिखने में मुझे प्रथम श्रेणी प्राप्त हुई थी, लेकिन उसकी भी कोई

कीमत नही थी, क्योकि साहित्य की योग्यता के मानी थे लैटिन भाषा की जानकारी।

इतिहास मे ग्रायरलैंड की उपेक्षा की जाती, इगलैंड को महत्व दिया जाता। मैं ठीक इससे उल्टा जवाब देता। लडके ग्राश्चर्य करते, शिक्षक मुस्कराकर रह जाते।

स्कूल को मै जेल कहता हू—वह जेल से भी बुरा है। जेल मे वार्डर या जेलर की लिखी हुई पुस्तके तो नही पढाई जाती और उनके याद न करने पर कोडे तो नही लगाए जाते! जेल मे जवर्दस्ती बैठाकर उन बेवकूफो की बाते तो नही सुनने को मजबूर किया जाता, जो उन बातो को स्वय न समझते हैं, न समझने की कोशिश करते हैं, फलत जिनमे समझाने की न योग्यता होती है, न इच्छा। जेल मे सिर्फ देह पर ग्रत्याचार किया जाता है, दिमाग पर नही, साथ ही वदमाश कैदियो से रक्षा भी की जाती है। स्कूल मे ऐसी कोई सुविधा नही।

१८७१ मे, जव मै १५ वर्ष का था, इस स्कूल-जेल से मुझे मुक्ति मिली।

घेरे से बाहर

जव मै दस वर्ष का भी नही हुग्रा था, मैं शेक्सपियर ग्रौर वाइविल से ग्रोत-प्रोत था।

वच्चो के लिए लिखी पुस्तको से मुझे घृणा थी।

मेरा मस्तिष्क नए विचारो के लिए छटपटाता रहता।

जिस घरमे प्रेम नही, घृणा नही, डर नही, श्रद्धा नही, था तो सिर्फ व्यक्तित्व, हम वच्चोको उससे वाहर ग्रपने लिए कोई रास्ता निकालना ही था।

मुझे याद है, एक वार एक पडोसी के वगीचे से मैंने चार दर्जन मेव चुराए, किन्तु डेढ दर्जन खाने के बाद ही मैंने ग्रनुभव किया कि इन्हे पेट मे उतारने के वदले मुर्गियो पर फेकना कही ग्रधिक ग्रानन्ददायक है।

जव मै छोटा वच्चा था, उपन्यासो के पढने से मेरी कल्पना इतनी तीव्र हो गई थी कि ग्रपनेसे छोटे एक वच्चे पर यो रोव जमाता, मानो मै कोई वहुत वडा नायक हू।

जब मै छोटा-सा बच्चा ही था, प्रसिद्ध सगीतज्ञ मोजार्ट के गाने अच्छी तरह सीख गया था, अपनी शिक्षा मे सबसे महत्वपूर्ण मैं इसी को समझता हूँ।

मेरी समझ मे होरास के पद्यो को कण्ठस्थ करने के बदले विथोविन का सगीत गुनगुनाना शिक्षा की दृष्टि से कही अधिक महत्वपूर्ण है !

यदा-कदा मै आयरलैड की राष्ट्रीय चित्रशाला मे जाता। वही बडे-बड़े चित्रकारो से मेरा परिचय हुआ।

मुझे पता चला कि माइकेल ऐंजेलो और टीशियन की तरह मैं चित्र नही बना सकता, जबतक कि इस कला का विधिवत् अध्ययन न करलू !

किलनी पहाडी पर मै दृश्यो को देखकर नही अघाता, जिन्हे प्रकृति ने जैसे मेरे लिए ही चित्रित किया हो।

ऐसा सुन्दर आकाश—मै सदा ऊपर ही देखता रहता !

हरिनो को पालने के लिए तो जगल रखाए जाते हैं, किन्तु बच्चो के लए बगीचे भी नही। शायद इसीलिए कि हरिनो का शिकार किया जाता है। लेकिन कौन कहता है कि आप बच्चो का शिकार नही करते—हा, उन्हे गोली से नही मारते और न उनपर शिकारी कुत्ते छोडते हैं ! यही आपकी मेहरबानी है !

जब मै बारह वर्ष का था तो साथियो के साथ एक पहाडी पर गया। हमने सोचा, इसपर आग लगाना कितना मजेदार होगा। एक लडके ने विरोध किया, वह नीचे उतर आया। वह पकड लिया गया, क्योंकि पुलिस ने देखा कि ऊपर आग धू-धू जल रही है ! निरपराध ही फसाए जाते हैं।

एक दिन जब मैं सध्या को चहल-कदमी कर रहा था, मेरे मन में अचानक यह बात उठी कि मुझे जब विश्वास नहीं तो फिर रात में सोने के पहले प्रार्थना क्यो किया करता हू। उस रात प्रार्थना नही की। दूसरे दिन मन मे प्रश्न उठा—प्रार्थना नही करने पर मैं कल बेचैन क्यो हो उठा ? और दूसरी रात के बाद तो मै भगवान् को इस तरह भूल चुका था, जैसे मैं जन्म-जात नास्तिक होऊं।

अब भगवान् नहीं रह गया था, तो मेरी आत्मा जगी—मैं सोचने

लगा कि मर्यादा और नैतिकता बडे-बूढो की ही चीजे नहीं हैं। बचपन की शैतानी, स्वार्थ, कल्पना, मूढधारणा आदि के स्थान पर हृदय मे एक ज्योति-सी जग गई—जैसे मेरा नया जन्म हुआ।

संघर्ष के वे दिन !

जीविका के रूप मे मैंने साहित्य को इस वास्ते अपनाया कि लेखक को पाठक देखते नही, इसलिए उसके लिए भलेमानस की पोशाक की जरूरत नही। व्यापारी, डाक्टर या फाटकेबाज बनने के लिए मुझे साफ-सुथरे कपडे पहनने पडते और अपने घुटनो एव कुहनियो से काम लेना छोड देना पडता। साहित्य ही एक ऐसा सभ्य पेशा है, जिसकी अपनी कोई पोशाक नही—इसलिए मैंने इसी पेशे को चुना।

फटे जूते, छेदवाला पाजामा, समय के थपेडो के कारण काले से हरा बन गया लम्बा कोट, कैंची से काटकर सर किया गया कालर, और पुराना टोप, जिसे मै उलटकर इसलिए पहनता कि कही उतारने के समय वह एक से दो न हो जाय।

"छ पैसे मे कैसे रहा जा सकता है"—इस नाम की पुस्तक मैंने एक बार खरीदी थी। दोपहर तक उसके नियमो पर मैंने ईमानदारी से चलने की कोशिश की और जब कभी मेरी प्रामाणिक जीवनी लिखी जायगी, मै उसमे इस घटना के उल्लेख पर जोर दूगा, क्योकि इससे मेरी सतोष और त्याग की वृत्ति प्रकट होती है।

मुझे एक सध्या की याद आरही है, जब मै उपन्यास लिखा करता था और उससे एक पैसा भी पाना सौभाग्य समझता था। मै स्लोन की सडक पर साहित्यिको की उस अटपटी पोशाक—सध्या की पोशाक—मे आ रहा था। एक आदमी मेरे निकट आया और बार-बार मुझसे सहायता मागने लगा कि उसके पास एक पैसा भी नही है। "मेरे पास भी एक पैसा नही है"—मैंने पूरी सच्चाई से उससे कहा और वह बडी सभ्यता से धन्यवाद देकर चला गया। जब वह चला गया, मै बार-बार सोचता रहा कि मै भी भीख क्यो नही मागता, क्योकि भीख मागनेवाले की स्थिति मझसे बुरी नही हो सकती।

दूसरी घटना। उसी पोशाक मे एक बार आधी रात के बाद मैं पिकाडेली से वौड की सडक की ओर लौट रहा था। उस समय एक स्त्री मेरे निकट आई और विनय की कि ब्रोम्पटन जानेवाली आखिरी बस भी छूट चुकी है, इसलिए यदि कोई उसे अपने साथ ले चले, तो वह बडी कृतज्ञ होगी। मुझमे आयरलैंड की बहादुरी तो थी ही, फिर अपनी अवस्था और स्थिति के साम्य पर भी दृष्टि थी, इसलिए मैंने बडी नम्रता से बहाना किया कि मेरी पत्नी (कल्पना की पत्नी ?) घर पर मेरी घोर प्रतीक्षा कर रही होगी और आपकी जैसी खूबसूरत देवी को रात भर की साथी बनाने के लिए कोई-न-कोई सज्जन मिल ही जायगे। यह कहना था कि उसने मेरी बाँह पकडली, मुझसे चिपक गई और मेरे साथ नरक तक जाने को तैयार बताने लगी! "मुझसे चिपककर आप दूसरा मौका भी खो रही हैं, मुझे छोडिए"—लेकिन क्या वह मुझे छोडने वाली थी ? अन्त मे मैं सडक की मोड पर खडा हो गया, जेब से अपना बटुआ निकाला और उसे उलटकर दिखा दिया! मेरा यह दिवालियापन देख बेचारी लडकी का चेहरा उतर गया। घाघरे के करुण मर्मर मे वह बेचारी जल्दी से लौटकर मेरी आँखो से ओझल हो गई।

लदन किसी शर्त पर मुझे बर्दाश्त करने को तैयार न था। बस, मेरा एक लेख स्वीकृत हुआ और पन्द्रह शिलिंग मिले। एक प्रकाशक ने कुछ पुराने ब्लाक खरीदे थे। उसने चाहा कि उन ब्लाको से स्कूलो में इनाम देने के लिए पुस्तके तैयार कराई जाय। मुझे ब्लाको के नीचे के लिए कविताए लिख देने को कहा। कविता क्या लिखता—विनोद मे ही व्यग-कविताए लिखकर उसके पास भेज दी। लेकिन मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब मैंने देखा कि इन कविताओ के लिए उसने धन्यवाद के साथ पांच शिलिंग दिए। मुझे दया आई। मैंने एक अच्छी गंभीर कविता लिखकर भेज दी, लेकिन उसे उसने दिल्लगी समझा और उसी दिन से मैंने कविता लिखना छोड दिया!

प्रारम्भ के नौ वर्षों में सिर्फ छः पौंड अपने लिखने की कमाई से मैं प्राप्त कर सका।

मैं और मेरे विचार

तुम पूछते हो कि मै तुम्हे अपने माता-पिता के विषय मे बताऊँ और यह भी कि उनका मेरे जीवन पर क्या प्रभाव पडा ?

अपने जीवन के विस्तृत विवेचन के लिए मुझे कम-से-कम बीस मोटे-मोटे ग्रथ लिखने पड जायगे। इससे कम मे कुछ भी कहना असम्भव है। मै अपने पिता की एक कहानी तुम्हे बताऊ ? मैं बच्चा था जब उन्होने मुझे समुद्र मे पहली बार डुबकी लगवाई। इसकी भूमिका में उन्होने तैराकी के महत्व पर एक सारगर्भित भाषण दिया और अन्त मे कहा—"जब मै सिर्फ चौदह साल का था, मैने तैराकी के ज्ञान के कारण ही तुम्हारे चाचा की जान बचाई थी।" और जब उन्होने देखा कि उनकी बातो का मुझपर गहरा प्रभाव पडा है, उन्होने कुछ झुक कर धीरे-से कहा—"लेकिन जितना दुख मुझे इस काम के करते हुआ, उतना और किसीसे नही।" इतना कहकर पिताजी गहरे पानी मे कूद पडे, खूब तैरे और लौटती बार रास्ते भर उनकी चुहल चलती रही।

मैने अपनी रचनाओ मे चरमविन्दु लाने की जान-बूझकर कभी कोशिश नही की, यह अनायास आ जाया करता है। पर इसमे कोई सन्देह नही कि मेरे पिता के मजाको और मेरे हास्य-प्रधान नाटको मे, हल्का ही सही, पर एक सम्बन्ध अवश्य है।

तुम पूछते हो, मैने पहली बार लिखने की प्रवृति का अनुभव कब किया ?

लिखने का प्रयास मैने कभी नही किया, उसी तरह जिस तरह सास लेने का प्रयास कभी नही करता हू, और न कभी यही अनुभव किया कि मुझ मे असाधारण साहित्यिक प्रवृति है। यदि किसीमे सहज एव स्वाभाविक साहित्यिक प्रवृति हो तो इसमे आश्चर्य की क्या बात ! कला के विशेषज्ञो, सग्रह-कर्ताओ और उत्साही लेखको मे ही सृजन-शक्ति की कमी रहती है। मछली उडना चाहती है, पछी तैरना—जिसमे जिस वस्तु का अभाव रहता है, वह उसी वस्तु को प्राप्त करने की चेष्टा करता है। मैने कभी लिखने की चेष्टा की ही नही। यह सत्य है कि मै अब उस साहित्यिक प्रवृत्ति का अभाव अपने मे पाता हूँ, फिर भी मै

उसकी पूर्ति के लिए लालायित नही हू । किसी वस्तु की इच्छा करना और उसे प्राप्त किए रहना—दोनो बाते कैसे हो सकती हैं ?

तुम पूछते हो, मेरी पहली कलाकृति का क्या रूप था ?

एक धुँधली-सी याद है । जब मै बच्चा था, मैंने एक कहानी लिखी थी और उसे किसी बच्चो के अखबार मे भेजा था । कहानी का नायक एक बन्दूक-धारी था, जिसने तलहटी की झाडियो मे किसीपर आक्रमण किया था । बन्दूक ही मेरी दिलचस्पी का केन्द्र था ।

वास्तव मे मेरी प्राथमिक कृतिया वे पाँचो उपन्यास हैं, जिनको १८७९–८३ के बीच मैने लिखा और दुर्भाग्य से जो अप्रकाशित ही रहे । फिर मैने एक वासनात्मक नाटक लिखना शुरु किया, जिसमे नायक की मा को मैने एक कलह-प्रिय स्त्री के रूप मे चित्रित करने का विचार किया, पर उसे लिख ही नही सका । न जाने क्यो, किसी चीज से खिलवाड करने मे मै बार-बार असफल रहा हूँ । 'कला कला के लिए' के उद्देश्य से किए गए मेरे सभी प्रयत्न विफल रहे । ऐसा लगता था, मानो मैं कागज पर काँटी रखकर उसे हथौडे से ठोक रहा होऊँ ।"

× × ×

इसके बाद ही शॉ की सफलता की जिन्दगी शुरु होती है। प्रतिभा ने, परिश्रम ने, लगन ने उसे ससार के महानतम लेखको की पक्ति मे बिठलाया । उसका एक अपना रग, अपना ढग ! उसकी एक अपनी भाषा अपनी शैली ! उसे यश मिला, उसे धन मिला । किन्तु उसने उनके मोह से सदा अपनेको अलिप्त ही रखा । सादा जीवन, उच्च विचार । न मास छुआ, न मदिरा छुई ! व्यग्यबाण चलाने मे उसने किसीको अछूता न छोडा ! कट्टरपथी अग्रेज जाति को वह बार-बार झकझोरता रहा, उसकी एक-एक धारणा की खिल्लिया उडाता रहा । किन्तु वाह री कलम की जादूगरी ! जादू वह जो सिर पर चढ कर बोले ! वे सुनते रहे, हँसते रहे, उसपर मरते रहे ! और क्या यह सच नहीं कि अंग्रेजी भाषा को उसने उस चोटी पर चढा दिया, जिसतक पहुँचने के लिए कोई भी भाषा लालायित हो सकती है ?

: ४ :

हमारे राष्ट्रपति

१६२१ का तूफानी जमाना ! बहुत-से लडको के साथ मैने भी स्कूल छोड दिया था। असहयोग के बाने के रूप मे मोटी खुरदरी खादी का कुर्ता शरीर पर और उसीकी बनी बेडौल गाधी-टोपी सिर पर डाले हम गॉव-गॉव की खाक छानते फिर रहे थे। कैसा उत्साह था, कितनी उमग थी ! हवा मे देशभक्ति की बिजली दौड रही थी। जर्रे-जर्रे से जैसे विप्लव के स्फुलिग निकल रहे थे। कैसा दिन, कैसी रात ! क्या खाना, क्या सोना ! लगता था, बूढे भारत मे नई जवानी आ गई है ! फिर, हम जो मुंछउठान नौजवान थे, उनकी मनस्थिति की कल्पना कीजिए।

देहात मे ही था कि खबर मिली, गाधीजी पटना आ रहे हैं। गाधीजी आ रहे हैं, यही बात हमे पटना खीच ले चलने को काफी थी। उसपर यह भी खबर थी कि वह पटना मे एक विद्यापीठ का उद्घाटन करने आ रहे हैं, जिसमे हम असहयोगी विद्यार्थियो के पढने का प्रबध किया जायगा। सबसे बडी खबर यह थी कि उस विद्यापीठ के आचार्य होगे राजेन्द्रबाबू !

राजेन्द्रबाबू को बिहार का कौन विद्यार्थी नही जानता था ? उस समय के विशाल कलकत्ता विश्वविद्यालय के विद्यार्थियो मे सर्वप्रथम आकर उन्होने बिहार के विद्यार्थियो की प्रतिभा की धाक जमाई थी। 'बिहारी-छात्र-सम्मेलन' की स्थापना कर बिहार के विद्यार्थियो का जैसा सगठन किया था, वैसा आजतक नही किया जा सका। आज के सारे छात्र-सगठन तो ध्वसात्मक हो गए हैं, वह सगठन पूर्णत रचनात्मक था। हर जिले मे उसकी शाखा थी। हर शाखा सालभर कुछ-न-कुछ रचनात्मक काम किया करती थी। उसके सरक्षण मे गाँवो मे निरक्षरता दूर करने के प्रयत्न से लेकर छात्रो के बीच व्याख्यान, व्यायाम, सगीत,

अभिनय आदि की प्रतियोगिताऐ चलती रहती थी। लेख और कविता की ओर विद्यार्थियो का ध्यान आकृष्ट करने के लिए हस्तलिखित पत्रिकाओ का सचालन होता था, विभिन्न विपयो पर निवन्ध लिखाए जाते थे और अच्छे निवंधो पर पुरस्कार और पदक प्रदान किए जाते थे। छात्र-सम्मेलन के अधिवेशन धूमधाम से किए जाते थे—देश के वडे-से-वडे नेता बुलाए जाते थे। इस सस्था ने राजेन्द्रवावू को विहार के विद्यार्थियो मे वडा ही जनप्रिय वना रखा था। फिर, चम्पारन के किसान-सघर्प मे राजेन्द्रवावू ने गाधीजी का पूरा साथ देकर विहार की जनता का मन मोह लिया था। अव गाधीजी की पुकार पर सवसे पहले असहयोग कर उन्होने विहार का नेतृत्व अपने कधो पर लेकर हमे कृतार्थ किया था।

ऐसे और वही राजेन्द्रवावू हमारे आचार्य होगे, हम उनके चरणो के निकट वैठकर ज्ञान प्राप्त करेगे, यह कल्पना ही हमे मुग्ध वनाने के लिए काफी थी !

कई मित्रो के साथ मै पटना पहुचा। समूचा पटना नए जीवन से तरगित था। प्रान्त के कोने-कोने से लोग आए थे। विद्यार्थियो की सख्या सवसे अधिक थी। असहयोग करके आये हुए वकीलो और प्रोफेसरो की भी भरमार थी। आज के वुद्धपथ पर, जो उन दिनो पटना-गया-रोड कहलाता था, एक नए मकान के अहाते मे सभा हुई। कैसी भीड ! उन दिनो लाउड-स्पीकर था नही, तो भी ऐसा सयम कि उस भीडभाड मे भी गाधीजी की वाते हम सुन सके, अच्छी तरह सुन सके। गाधीजी ने विद्यापीठ का उद्घाटन किया। झरिया से इसके लिए उन्हे रुपए मिले थे। सभा मे भी दान के लिए अपील की—कई देवियो ने हाथ की चूडिया तक निकालकर दे दी, अन्य गहनो की तो वात ही क्या !

राजेन्द्रवावू की उस दिन की सूरत आज भी याद है। अपनी सादगी के लिए वह सदा विख्यात थे, किन्तु उस दिन की उनकी सादगी और सौम्यता कुछ अजव ही छटा दिखा रही थी। लम्वा, छरहरा शरीर, श्यामल मुखमडल। उठी हुई नाक के नीचे वेतरतीव मूंछे और उनके अगल-वगल के दो पीली-पीली आंखें, जिनमे सुनहली किरणे फूटती-सी

मालूम देती । सिर पर ऊँचे पल्ले की गाधी टोपी, जो उनकी ऊँचाई को और भी वढा रही थी । मोटी खादी का खुरदरा कुर्ता, जिसके वटन भी ठीक से नही लगे थे। खादी की ही धोती, जो मुश्किल से घुटनो के नीचे पहुँच रही थी ! राजेन्द्रबाबू को पहली ही बार देखा था, किन्तु उस दिन के राजेन्द्रबावू विहार के करोडो किसानो के सोलहो आने प्रतिनिधि लग रहे थे ।

विद्यापीठ खुली, वह शहर से दीघाघाट की देहात मे आई । स्वर्गीय मौलाना मजहरुल हक द्वारा स्थापित सदाकत-आश्रम विहार-काग्रेस का सदर दफ्तर और विद्यापीठ का अध्ययन-केन्द्र वना । जगल मे मगल मनने लगा । एक तरफ विद्यार्थियो का कलरव, दूसरी तरफ कार्यकर्ताओ का कोलाहल । बीच मे राजेन्द्रबाबू का सौम्य, शान्त व्यक्तित्व—मानो प्रशान्त और अतलान्तक सागरो के बीच एक पुल । मेरे जैसे चपल लोग, उस पुल से कभी उस सागर के तट पर, कभी इस सागर के तट पर आते-जाते रहते ।

१९२१ का तूफान बढता गया, वढता गया और उसके साथ ही राजेन्द्र वाबू का व्यक्तित्व भी ऊँचा उठता गया । विहार का स्वतत्र अस्तित्व कब से न विलीन हो चुका था, बिहार की गौरव-गरिमा कव की न धूल मे मिल चुकी थी ! अब इस नए युग मे राजेन्द्रबाबू के व्यक्तित्व के साथ नया विहार देश के नक्शे पर अपना नाम सुनहले अक्षरो से लिख रहा था । हमारी प्रसन्नता का क्या कहना ! मै दावे के साथ कह सकता हूँ, जिस प्रकार विहार का एकछत्र नेतृत्व राजेन्द्रवाबू को मिला था, वैसा अपने प्रदेश मे किसी भी नेता को शायद ही कभी नसीब हुआ हो । देश मे उस समय भी बडे-से-बडे नेता थे—देशवन्धु चित्तरजनदास, प० मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपतराय, अलीवधु, इन सवको पूरे देश का सम्मान मिला था, किन्तु इनके अपने प्रदेश मे ही इनकी ओर उगली उठानेवाले लोग कम नही थे । किन्तु यह राजेन्द्रवाबू थे, जो एक स्वर से समूचे विहार का प्रतिनिधित्व करते थे । लोगो को आश्चर्य होता था, कभी-कभी इसे बिहारियो की भेडियाधसान की प्रवृति मानकर इसपर व्यग भी कसा जाता था, किन्तु ऐसे लोग भूल जाते थे राजेन्द्रवाबू की उन

खूबियो को जिनके कारण सारा विहार उनके पीछे चलने मे गौरव अनुभव करता था।

इतना बडा व्यक्तित्व रखकर भी राजेन्द्रबाबू कभी यह अनुभव नही होने देते थे कि वह सर्वसाधारण से पृथक नेता नामक कोई किभूत, किमाकार जीव हैं। उनकी वेशभूषा, खानपान, रहन-सहन सबमे साधारणीकरण की अद्भुत छाप थी। सबकी तरह मोटी धोती और कुर्ता सबके साथ एक ही पक्ति मे बैठकर वही साधारणतम भोजन—भात-दाल या रोटी-सब्जी, सबके समान ही बिछावन-तकिया। उनके निकट कोई भी किसी समय जा सकता था। वह किसी भी कार्यकर्ता के साथ एक ही इक्के पर या रेल के थर्ड क्लास के एक ही डब्बे मे बैठकर सफर कर सकते थे। अपने व्यक्तित्व का बोझ किसीपर नही लादते थे। अपना बिस्तर आप उठाकर चल देने मे उन्हे जरा भी हिचक नही होती थी। छोटे-छोटे कार्यकर्ताओ के नाम भी उन्हे याद रहते, जब कभी वह उनके निकट जाते, बडे प्रेम से उनका हालचाल पूछते। अपने सुख-दुख की गाथा वे बडे विस्तार से कहते जाते और राजेन्द्रबाबू बिना ऊब के उनकी बाते ध्यान से सुनते जाते। जो सहायता के पात्र होते, उनकी सहायता करने मे वह किसी हद तक जा सकते थे। ऐसे नेता को स्वभावतः एकछत्र नेतृत्व मिल जाय, तो इसमे आश्चर्य की क्या बात है!

१९२१ का तूफान बीता। १९२२ से १९२९ तक की वह जहरीली प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई। वकीलो ने वकालत शुरू की, विद्यार्थियो ने स्कूल-कालेज पकडे। बडे-बडे नेता विधान-सभाओ की ओर लपके। आपस की 'तूतू-मैंमैं' चलने लगी। तरह-तरह के झगडे खडे हुए। हिन्दू-मुसलमानो के बीच दगो का एक लम्बा सिलसिला शुरू हुआ—भाई के खून से भाई के हाथ रगने लगे। वह दानवी चिल्लाहट—'हर हर महादेव', 'अल्लाहो अकबर'! महादेव और अल्लाह जहा कही भी हो, अपने इन नाम-लेवो पर निस्सदेह सिर धुनते होगे! हिन्दुओ मे आपस की जात-पात की लडाई शुरू हुई। कोई अपनी जाति का राज्य बनाना चाहता था, कोई अपनी जाति का। चुनावो ने इस जले पर नमक छिडका। सारे देश मे अन्धकार था। ऐसे अवसर पर सारे देश में जिन कुछ लोगो ने प्रकाश-

स्तम्भ का काम किया, उनमे राजेन्द्रबाबू अन्यतम थे।

जब सारा देश इस प्रतिक्रिया की चपेट मे पडा था, राजेन्द्रबाबू सदाकत-आश्रम मे तपस्या की धूनी रमा रहे थे—वह तपस्या नही, जो अन्तर्मुखी हो, अपने आपमे केन्द्रित हो और अचल हो। उनकी तपस्या वहिर्मुखी थी, जनमुखी थी, जगम थी। सदाकत-आश्रम मे विद्यापीठ का काम चल रहा था—यही नही, प्रान्त के कई अचलो मे राष्ट्रीय विद्यालय शान से चल रहे थे। इनके द्वारा राष्ट्रीयता की नीव तरुणो के हृदयो मे दृढमूल की जा रही थी। खादी के उत्पादन के लिए सुसगठित प्रयत्न जारी था। विहार की खादी अपनी बारीकी और सस्तेपन के लिए देशभर मे सुनाम पा रही थी। अपने व्यवहार से, बचन से ही नही, राजेन्द्रबाबू साम्प्रदायिकता और जात-पॉत की दावाग्नि को विहार मे सहार-काड मचाने से रोक रहे थे। देहात के कोने-कोने मे फैले राष्ट्रकर्मियो से निकट सम्पर्क वनाकर, उन्हे तरह-तरह के रचनात्मक कार्यो मे जोतकर वह सदा उन्हे निराशा के चक्र मे फस जाने से बचाते। वह प्राय प्रान्त के कोने-कोने मे यात्रा करते और जहा जाते, वहा की जनता और कार्यकर्ताओ मे उत्साह का सचार करते। पूरे सात साल तक राजेन्द्रबाबू द्वारा की गई इस अनवरत साधना का ही फल था कि १९३०-३२ के सत्याग्रह मे बिहार ने न केवल देश-व्यापी, अपितु अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की।

अपने कार्यकर्ताओ की भावना का खयाल राजेन्द्रबाबू कितना रखते थे, उसके कई प्रसगो का पुण्यस्मरण कर आज भी मुझमे पुलक हो आता है। राजेन्द्रबाबू विशुद्ध अहिसावादी हैं। आतकवादी कार्यो को उन्होने कभी पसन्द नही किया। किन्तु जब कभी उन्हीके अनुयायी, अग्रेजो की कुनीति से ऊवकर, हिसा के मार्ग पर चल दिए और काल-क्रम से वे पकडे गए और उनपर सशस्त्र विद्रोह और षड्यन्त्र के मुकदमे चले, तब राजेन्द्रबाबू ने उनके मुकदमे की पैरवी के लिए कुछ उठा नही रखा। यह सच है कि राजेन्द्रबाबू ने यदि उस समय उनकी अच्छी पैरवी न कराई होती तो उनमे से कितनो को फासी हो गई होती। जब यतीन्द्रनाथदास की शहादत पर पटना के युवको ने जलूस निकालना

चाहा और पुलिस ने उसपर रोक लगा दी तो स्वय राजेन्द्रवावू उसमें कूद पडे और पुलिस को हारकर जुलूस की आज्ञा देनी पडी। उस समय उनके कई सहकर्मियो ने उन्हे समझाना चाहा कि यह आतंकवादियो की वात हे, हमे इसमे नही पडना चाहिए, किन्तु राजेन्द्रवावू ने स्पष्ट कह दिया कि जव हमारे नौजवानो ने तय कर लिया कि रोक के वावजूद वे जुलूस निकालेगे, तव यह नही हो सकता कि हम वैठे रहे और उन्हे सडको पर पुलिस के डडे खाने को छोड दे।

राजेन्द्रवावू देखने मे ही सौम्य नही हैं, उनकी धमनियो मे भी सौम्यता के ही रक्त का संचार होता है। किन्तु उनकी सौम्यता के अन्दर एक अपूर्व दृढता और तेजस्विता छिपी है, यह उनके निकट रहने वाले जानते हैं। १९३० की एक घटना याद आ रही है। देशभर मे नमक-सत्याग्रह चल रहा था। विहार मे भी कई स्थानो पर सत्याग्रह जोरो से जारी था। राजेन्द्रवावू प्रान्तों के उन सभी स्थानो के दौरे कर रहे थे। इधर पटना मे कुछ नही हो रहा था। कुछ नौजवान कुछ करना भी चाहते थे, किन्तु वुजुर्ग उनके हाथ रोक रहे थे। प्रान्तभर मे धू-धू आग जल रही हो और हम सिर्फ दूर से हाथ सेकते रहे, नौजवानो को यह पसद न था। अन्तत मुझे राजेन्द्रवावू की सेवा मे भेजा गया। मुजफ्फरपुर स्टेशन पर ही उनसे भेट हो गई। मैंने सारी वाते वताई। सयोगवश हमारे एक वुजुर्ग नेता भी उसी गाडी से वहां पहुचे थे। मैं राजेन्द्रवावू से वाते कर ही रहा था कि वह आ पहुचे और शर्तो की वात कहकर राजेन्द्रवावू को समझाने लगे। राजेन्द्रवावू ने उनकी वाते सुन ली। फिर वगल मे खडी रेलगाडी के एक डव्वे में वैठ गए और एक आज्ञापत्र लिख दिया—शर्त सिर्फ शान्ति की, जो जहा चाहे, सत्याग्रह शुरू कर दे। उन नेता महोदय की क्या वात, मै भी राजेन्द्रवावू की यह तेजस्विता देखकर दग रह गया।

विहार मे यह वात सर्वविदित है कि जव गाधीजी ने 'अंग्रेजो, भारत छोडो'—का नारा शुरू किया, तव राजेन्द्रवावू ने विहार के चुने हुए राष्ट्रकर्मियो को एकत्र किया था और साफ शब्दो मे कह दिया था कि हमे इस वार अग्रेजी राज्य को "धोग्रा देवे के चाही!" इस 'धोग्राना'

शब्द का सही हिन्दी पर्यायवाची शब्द क्या होगा, मैं नही जानता। भोजपुरी मे इसका जो अर्थ है, वह अग्रेजी के 'पैरालाइज्ड' शब्द से मिलता-जुलता है। यही नही, राजेन्द्रबाबू ने उन लोगो की एक सूची भी वना ली थी, जो देश के इस अन्तिम मुक्ति-सग्राम मे अपने प्राणो की आहुति बिना हिचक दे सकते थे। १९४२ की अगस्त-क्रान्ति मे बिहार मे सचमुच अग्रेजी सरकार थौंस चुकी थी!

श्रद्धेय राजेन्द्रबाबू की रचनात्मक प्रतिभा की धाक तो प्रारम्भ से ही देश पर छाई हुई थी, किन्तु उसका सबसे बडा प्रमाण तब मिला, जब बिहार मे भूकम्प हुआ। १९३४ का भूकम्प! भूकम्प क्या, खड—प्रलय समझिए। राजेन्द्रबाबू जेल मे थे। बिहार-सरकार को अक्ल आई, वह छोड दिए गए। जेल से निकलते ही रिलीफ का कैसा सुन्दर प्रवन्ध किया। उस अवसर पर मेरे गाँव मे कई बार राजेन्द्रबाबू गए और मेरी कुटिया को सनाथ किया।

उसके बाद ही वह बम्बई-काग्रेस के सभापति चुने गए। इसे हम सबने बिहार का सम्मान माना।

यहा राजेन्द्रबाबू की हिन्दी-सेवा का उल्लेख कर देना भी उचित होगा। बिहारी छात्र-सम्मेलन द्वारा उन्होने हिन्दी की ओर विद्यार्थियो का ध्यान आकृष्ट करने के लिए लेखादि का जो सिलसिला चलवाया था, उसका उल्लेख किया जा चुका है। जब पटना विश्वविद्यालय कायम हुआ, शिक्षा का माध्यम हिन्दी बनाने के लिए उन्होने प्रारम्भ से ही जोर दिया। पटना मे अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का वह शानदार अधिवेशन उन्होने ही कराया था, जिसके सभापति मध्यप्रदेश के प० विष्णुदत्त शुक्ल थे। बिहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की स्थापना मे भी उनकी प्रेरणा ने हमे बल दिया था। प्रादेशिक सम्मेलन के अधिवेशनो मे वह अवश्य ही सम्मिलित होते थे और प्रान्त के साहित्यिको को सदा पथ-प्रदर्शन देते थे। प्रादेशिक सम्मेलन ने उन्हे दरभगा अधिवेशन का सभापति बनाकर अपनेको गौरवान्वित किया था। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सभापति-पद उन्हे

सौप कर हिन्दी-ससार ने उनकी हिन्दी-सेवा पर स्वीकृति की मुहर लगाई। काग्रेस के साथ होनेवाले राष्ट्रभाषा-सम्मेलन के तो वह सदा प्राण रहे। राजेन्द्रबाबू अपना पत्र-व्यवहार सदा हिन्दी मे करते थे। हिन्दी पत्र-पत्रिकाओ के लिए लेख लिखने मे भी उन्हे सकोच नही था। पटना से प्रकाशित साप्ताहिक 'देश' उनका अपना पत्र था, उसमे वह प्राय. लिखा करते थे। अन्त मे तो उसके सम्पादक भी वही थे।

सबसे बढकर अपनी 'आत्मकथा' हिन्दी मे लिखकर उन्होने इस भाषा को कितना बडा गौरव प्रदान किया है, इसे कौन हिन्दी-भाषी अनुभव नही करेगा! राजेन्द्रबाबू ने इस 'आत्मकथा' मे जैसी हिन्दी का व्यवहार किया है, वही सरल, सरस, प्राजल भाषा एक दिन राष्ट्रभाषा का स्थान पाएगी, यह मेरा दृढविश्वास है।

काग्रेस के सभापति की हैसियत से उन्होने देश के कोने-कोने का दौरा कर एक नई परम्परा चलाई। वह जहा गए, सर्वत्र उन्हे शाही स्वागत मिला, थैलिया मिली, अनेकानेक उपहार मिले। उन्हीके सभापतित्व-काल मे काग्रेस की स्वर्ण-जयन्ती मनाई गई, जिसकी धूमधाम के सामने सम्राट पचम जार्ज के राज्यकाल की रजत-जयन्ती फीकी पड गई। उस अवसर की एक मधुर घटना याद आ रही है। मै उन दिनो 'योगी' का सम्पादन कर रहा था। इस अवसर पर मैने 'शहीद-अक' निकालने का विचार किया। उसके लिए राजेन्द्रबाबू से एक लेख मागा और साथ ही निवेदन किया, क्यो न काग्रेस की स्वर्ण-जयन्ती के साथ शहीद-वन्दना का भी कार्यक्रम रखा जाय। राजेन्द्रबाबू उन दिनो दक्षिण भारत की यात्रा मे थे, उनका बडा ही व्यस्त कार्यक्रम था। तो भी उन्होने एक लेख तुरन्त भेजा और एक वक्तव्य प्रकाशित कर स्वर्ण-जयन्ती के कार्यक्रम मे शहीदो के प्रति श्रद्धाजलि अर्पित करना, उनका स्मारक बनाना उनके परिवार की सहायता करना आदि भी सम्मिलित कर दिया। अपने उस लेख का प्रारम्भ राजेन्द्रबाबू ने फारसी के एक शेर से किया था, "मर्गे अम्बोह जशने दारद"। अर्थात्—साथ का मरना स्वयं एक उत्सव है!

राजेन्द्रबाबू ने देश मे जो समा बाधा, उसीका फल था कि १९३५ के केन्द्रीय असेम्बली के चुनाव मे कांग्रेस को शानदार सफलता मिली और १९३७ के आम चुनाव मे भारत के सात प्रान्तो की विधान-सभाओ पर कांग्रेस का कब्जा हुआ। १९३२ के आन्दोलन के समय भारत-मत्री सर सैम्युयल होर ने गर्व से कहा था, "कुत्ते भूकते रहेगे, कारवा बढता जायगा।" ससार ने कुछ ही वर्षो के बाद देखा, वे कुत्ते कारवा के ऊटो की गर्दन पर सवार थे और उन्हे झकझोर कर अधमुआ कर रहे थे।

१९४२ मे जब राजेन्द्रबाबू जेल भेजे गए तो वहा उन्होने 'इण्डिया डिवाइडैड' नामक वह आकर-ग्रथ लिखा, जो आकडो का आगार है। उसमे उन्होने सिद्ध किया कि यदि भारत के टुकडे किए गए तो आर्थिक दृष्टि से उसका विकास रुक जायगा। किन्तु अक्ल की बात साम्प्रदायिक कट्टरता के सामने हार गई। और क्या यह सच नही है कि पाकिस्तान आज जिस मुसीबत मे फसा है, उसकी झलक राजेन्द्रबाबू ने पहले ही दे दी थी।

जेलो मे राजेन्द्रबाबू सदा एक आदर्श कैदी रहे। १९३० मे हजारी-बाग जेल मे जबतक रहे, नियमित रूप से जेल के कारखाने मे जाकर काम करते रहे। मै 'कैदी' नामक एक हस्तलिखित पत्र वहा निकालता था। 'प्रजा का धन' शीर्षक से उसमे एक लेख देकर राजेन्द्र-बाबू ने अपने लोगो से आग्रह किया कि वह कुछ काम जरूर करे, क्योकि आखिर वे जो अन्न खा रहे हैं, वह तो प्रजा का ही धन है। ऐसा करके हम उसकी कुछ भरपाई कर सकेगे। जेल मे नियमित रूप से चरखा कातना, पढना-लिखना आदि के साथ उनका एक काम यह भी होता कि अपने सहकर्मियो और अनुयायियो के बैरको मे जाते, उनसे मिलते, उनसे हालचाल पूछते और जिन्हे जरूरत होती, उनकी सहायता का प्रबन्ध इस तरह करा देते कि वह जान भी न पाता कि कहा से क्या हो रहा है।

इसके बाद की घटनाए तो जग-जाहिर हैं। राजेन्द्रबाबू केन्द्रीय सरकार के खाद्य-मत्री बने। उस समय अकाल का बादल देश के ऊपर मडरा रहा था। राजेन्द्रबाबू ने बडी मुश्किल से उसे टाला। विधान-

परिषद के सभापति के रूप मे उन्होनें देश को एक अच्छा विधान पाने मे कितनी सहायता की, उसका सबूत यह है कि जब उस विधान के अनुसार भारत का जनतत्र स्थापित हुआ, देश ने उनके सर पर राष्ट्रपति का ताज रखा।

बिहार को इसका गर्व है कि उसने स्वतन्त्र भारत को प्रथम राष्ट्रपति दिया।

: ५ :

यूरोप के कलाकार

अपनी दो बार की यूरोप-यात्राओ मे रगमच और चित्रशाला देखना मेरा सबसे प्रिय कार्य रहा। इगलैंड की नेशनल गैलरी, फ्रास की लालूव्र और वारसाई की चित्रशालाए, जिनेवा और बर्न की चित्रशालाए, फ्लारेस की चित्रशाला और पित्ती की गैलरियाँ, वेनिस की आधुनिक चित्र-प्रदर्शिनी, रोम की वेटिकन गैलरी—इन सबमे कितने घण्टे अपनी आँखो को मैने तृप्त किया था! पेरिस मे बीसवी सदी की कला-प्रदर्शिनी तो विचित्र थी और मेरा यह सौभाग्य था कि उसी समय यूरोप के प्राय हर शहर मे लियोनार्दो द विची की जयन्ती मनाई जा रही थी। लियोनार्दो की प्राय सभी कृतिया अपनी आँखो से देखकर कृत्कृत्य हुआ और बीसवी सदी की कला की गूढता ने तो मुझे विस्मय-विमुग्ध कर दिया।

कलाकारो की कलाकृतिया! 'गिरा अनयन नयन बिनु वानी'—तुलसी की यह चौपाई बार-बार याद आती थी। किन्तु जब इन कलाकारो के जीवन-चरित पर उतरा, यह जानना शुरू किया कि जिनकी ये कृतिया हैं, उनका चरित्र कैसा था, वे कैसे पले, कैसे बढे, उन्हे किन सघर्षो का सामना करना पडा, उन्हे कहातक सफलता मिली, तव तो ऐसा लगा कि मैं सहसा एक ऐसे टापू मे डाल दिया गया हू, जहा के सभी प्राणी विचित्र है, रग मे, रूप मे, स्वभाव मे, आचार मे, व्यवहार मे।

जरा उनमे से कुछसे आप भी भेट कर लीजिए।

लियोनार्दो द विंची—यूरोपीय कला का यह पिता, किन्तु अपने पिता की अवैध सतान—देखने मे अति सुन्दर, साथ ही अत्यन्त प्रतिभावान, बचपन से ही गाने-बजाने और चित्रकारी मे रुचि—उम्र के साथ प्रतिभा का भी विकास होता गया और अन्तत तो वह 'जादूगर' कहा जाने लगा। पृथ्वी और आकाश का कोई रहस्य नही, जिसके जानने

और सुलझाने के लिए उसने चेष्टा नही की। वायुयान, टैंक, जल-कल, सवके वारे मे अन्वेपण करता रहा, वास्तुकला और चित्रकला तो उसकी जीवन-सहचरी रही। वलवान इतना कि घोड़े के नाल को हाथ से दवाकर टेढा कर देता।

लियोनार्दो ने उम्र भी लम्वी पाई—१४५२ से १५१६ ई० तक वह जीवित रहा। इन सडसठ सालो मे, प्रारम्भ के कुछ वर्षो को छोड़कर, पूरी उम्र उसने कला की आराधना मे ही विताई। तीस वर्ष फ्लोरेंस मे, वीस वर्ष मिलान मे, सत्रह वर्ष इधर-उधर घूमते-घामते, इटली के इस सपूत ने फ्रास के राजा की छत्रछाया मे, अपने देश से दूर, अन्तिम समाधि ली।

इस कलाचार्य की कूची ने जिसे स्पर्श किया, वह अमर हुआ। ईसा के 'अन्तिम भोजन' पर जो चित्र वनाया, उसपर तो एक वडे साहित्य का सृजन हो गया है। और, 'मोना लिसा'—उसे तो कुछ लोग यूरोप की सर्वोत्कृष्ट कलाकृति मानते हैं। इस छोटे-से चित्र पर वह तीन वर्ष तक काम करता रहा और मरते समय कहता गया कि अफसोस, मैं इसे पूरा न कर सका!

"सभी सौन्दर्य, मानवी सौन्दर्य भी, मर-मिट जाते हैं। जीवित रहते हैं, अमर हो जाते हैं सिर्फ वे सौन्दर्य, जिन्हे कला मे वाध दिया जाता है।"—अपने इस कथन की सार्थकता मे उसने जहा-जहा सौन्दर्य देखा, सवको अमरता देने की कोशिश की। देवी, देवता, परिया, सुन्दरिया—यही नही, घोडे, कुत्ते, भेडिये भी उसकी कूची मे अमरत्व प्राप्त कर सके हैं। अपने घोडे की जो तस्वीर उसने वनाई, वह भी एक अमर कलाकृति है।

इतना वडा कलाकार, वडे-वडे लोग उसके प्रशसक, हमेशा सयम मे रहा—कभी कोई स्त्री उसे विचलित नही कर सकी, तो भी, उसका जीवन सघर्षो मे ही कटा और अपने अन्तिम दिनों मे उसने अपनी डायरी मे, अपने वाए हाथ से लिखा—"जहा मैं सोचता था कि जीना सीख रहा हू, वहा देखता हू, मैं मरना सीख रहा था।"

लियोनार्दो के बाद माइकेल ऐंजेलो—महानतम व्यक्तियो मे भी महानतम। कवि, इतिहासकार, आलोचक, औपन्यासिक—किसने अपनी लेखनी को इस कलाचार्य की कथा लिखकर धन्य नही किया ? रोम्या रोला ने उसके बारे मे लिखा है—"माइकेल ऐंजेलो के समान उस समय तक कुछ नही देखा गया था। उसको गए इतने दिन हो गए, तो भी कला की दुनिया उसकी तूफानी आत्मा के ही चारो ओर चक्कर काट रही है। चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला, कविता—सबको उसने अपनी वलिष्ट वाहुओ से पकडा और सबमे अपनी अलौकिक शक्ति और उज्ज्वल आदर्शवाद का सचार किया। उसे समझा कितने लोगो ने, यह विवादास्पद है, किन्तु अनुकरण तो सभी कलाकारो ने किया।"

माइकेल ऐंजेलो का जन्म, फ्लोरेंस, (इटली) मे एक गरीब के घर मे हुआ था। स्कूल मे पढते समय से ही चित्रकला की ओर उसकी रुचि देखी गई। तेरह वर्ष की उम्र मे वह एक चित्रकार का सहकारी बन गया। थोडे दिनो के वाद वह एक प्रसिद्ध मूर्तिकार का सहकारी बना। उसने लिखा है—"अच्छा हुआ कि मेरे हाथ मे छेनी और हथौडा आया, चित्रकला तो औरतो के लिए है।"

छेनी और कूची दोनो मे ही उसने थोडे दिनो मे कमाल दिखलाना शुरू किया। मानवीय स्नायुओ के सही-सही चित्रण के लिए वह चुपचाप मुर्दो को शमशान से उखाड लाता और चीरफाड कर देखता। मुर्दो की चीडफाड से उसे बार-बार उल्टी आती, पीछे तो उसकी आत तक उलट गई, जिस कारण जिंदगी भर उसे खाने-पीने मे रुचि नही रही, तो भी वह अपनी धुन मे लगा रहा। मासपेशियो और स्नायुओ की जैसी उभाड और वहार माइकेल ऐंजेलो की कला मे देखी जाती है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है।

पत्थर और रग से जिस दुनिया का उसने निर्माण किया, उसने उसे अमर कीर्ति ही नही दी, अपितु धन-वैभव का भी ठिकाना न रखा, लेकिन उसके लिए ये सब तुच्छ थे—कभी विछावन पर नही सोया, कभी अच्छा भोजन नही किया। अपनी कला मे मस्त वह दिन-रात काम करता रहा।

उसकी कलाकृतियो मे काम-भावना का नितान्त अभाव है। उसकी कला मे पौरुष सजीव हो उठा है। स्त्रियो की मूर्तियो मे भी यौवन का वह रूप है, जहा वासना फटक नही सकती।

सिस्टाइन के प्रार्थना-गृह की छत मे उसने जो तस्वीरे बनाई, वे, मालूम होती हैं, देवताओ की बनाई हुई हैं! सृष्टि की पूरी कथा वहां अकित है। आदम की आकृति तो देखते ही बनती है—मनुष्य के प्रथम पूर्वज ऐसे ही हो सकते हैं, सहसा मुँह से निकल पडता है! वर्षों तक अधर पर लटकते हुए ढठ्ठर पर अपनेको चित्त लिटाकर, उसने छत पर ये तस्वीरे बनाईं—तीन सौ तैंतालीस तस्वीरें, जिनमें अधिकाश दस फुट से १८ फुट तक की हैं।

लियोनार्दो की तरह ही नही, उससे भी बढकर, माइकेल ऐंजेलो ने लम्बी उम्र पाई थी— १४७५ से १५६४ तक वह जीवित रहा। इस उम्र का पल-पल उसने कला की आराधना मे बिता दिया।

इन दो महान इटालियन कलाकारो के बीच मे राफेल। दो चट्टानो के मध्य मे सगमरमर की एक मूर्ति—कोमल, चमकीली, तुनुक! राफेल सिर्फ सैंतीस वर्ष जीवित रहा–१४८३-१५२० तक। लेकिन यूरोपीय कला पर वह अपनी स्थायी छाप छोड गया। छोटी उम्र मे ही काफी कीर्ति पाई, काफी मौज उडाई। अपनी प्रियतमा के घर से लौट रहा था, वर्षा हुई, ठड लग गई, चल बसा!

फिर तिशियन—जिसकी कला मे इटली की सारी रगीनी और करुणा केन्द्रित है। तब ब्यूगेल, जिसने हॉलैंड के जन-जीवन को कला-क्षेत्र मे आदर का स्थान दिलाया। और, हालबिन—वह जर्मन, जिसने अपनी कला पर कभी इटालियन छाप नही आने दी।

रुबेन एक फ्लेमिश कलाकार था। क्रैवेन कहता है—"इसमे शक हो सकता है कि सबसे बडा कलाकार कौन है, किन्तु यह तो मान ही लेना है कि सबसे बडा चित्रकार रुबेन है। शब्दों की दुनिया में जो स्थान शेक्सपियर का है, रगो की दुनिया मे वह स्थान रुबेन को मिला है। उसकी आकृतियो में सार्वभौमता है, उसके रगो में विविधता है। मानवता का कोई ऐसा रूप नही, जिसका चित्रण उसने नही किया।

उसकी एक-एक रेखा बोलती है। मुँह की आकृति कह देती है कि ठीक इसके मुँह से यह बात निकलेगी!

वह एक सुखी मध्यवित्त परिवार का आदमी था। अच्छी शिक्षा मिली थी। सात भाषाओ मे वह आसानी से बातचीत कर सकता था। चित्रकला की प्रारभिक शिक्षा पाकर वह घोडे पर इटली के लिए रवाना हुआ। वहा से जो सीख कर लौटा, उसमे अपनी मौलिकता जोडी। स्पेन गया, इगलैंड गया। जहा गया वहा सम्मान और ऐश्वर्य पाया। देखने मे सुन्दर, व्यवहार में सज्जन। कोई बुरी लत नही। अपनी पत्नी मे ही सतुष्ट। उसने भी नगी तस्वीरे बनाई, किन्तु उसकी नग्नता मे वासना की बदबू नही, विधाता के सौन्दर्य-दान की झलक मिलती है।

ऐन्टवर्प मे उसका घर यूरोप के तत्कालीन कलाकारो का तीर्थस्थान था। वही से उसने यूरोप के राजभवनो, गिरजाघरो और कलाकेन्द्रो के लिए तीन हजार मे ज्यादा चित्र भेजे। फ्लोरेंस की एक महिला के लिए उसने चित्रो के अट्ठारह पैनेल १३ फुट × १० फुट के, तीन कन्वास १३ फुट × २४ फुट के तथा आदमकद के कितने ही चित्र तैयार किए। माइकेल ऐंजेलो के सिस्टाइन चैपेल की चित्रावली से ही इसकी तुलना की जा सकती है।

रैम्ब्राड—वह कलाकार जिसे प्रकृति और समाज ने समान रूप से सताया, चूर-चूर किया, किन्तु जिसने पराजय नही स्वीकार की। हॉलैंड, लीडन मे सन् १६०६ ई० मे इसका जन्म हुआ था। मा चाहती थी, वह पादरी बने। पिता चाहते थे डाक्टर बने—किन्तु अपनी कापी पर वह तस्वीरे बनाता रहा। इक्कीस वर्ष मे ही अपने शहर का प्रसिद्ध चित्रकार बन गया, दिन-रात काम करता, काफी पैसे मिलते, खूब खर्च करता, बीवी के लिए जवाहरात, अपने लिए चित्रो के नमूने खरीदने मे कभी कजूसी नही दिखाई।

किन्तु यह अवस्था न टिकी। बच्चे-पर-बच्चे हुए और मरते गए। बीवी चल बसी। कला में ऐसी मौलिकता लाने लगा कि लोग समझ नही पाते। सब लोग शरीर का चित्रण करते, वह आत्मा को चेहरे पर प्रतिबिम्बित करने की चेष्टा करता। खरीददार कम होते गए, वह और

भी धुन से अपनी नए प्रयोग मे लगा । कर्ज ! फिर कुर्की ! एक चमार ने नीलाम में उसकी सारी जायदाद खरीद ली !

तोभी उसने हार न मानी । एक छोटे-से मकान मे, बचे-खुचे सामान को लेकर उसने अपनी दुनिया बसाई । खाने को एकाध टुकडा मिल गया, वही बस । दरिद्रता उसके मन पर कोई कटुता नही ला सकी । उसने जो चित्र बनाए, वे चित्रकला के अनुपम शृङ्गार समझे जाते हैं । अभाव मे, कष्ट मे, सकट मे, सघर्ष मे जो चीजे वह संसार को दे गया, उनके कारण अन्ततोगत्वा ससार को उसकी महत्ता स्वीकार करनी पडी और पीछे तो 'वान लून' ने उसकी ऐसी जीवनी लिखी, जिसकी उतनी कापिया बिकी, जितनी किसी भी जीवनी की कभी नही बिकी थी ।

एल ग्रेको, क्रीट (ग्रीस) का वह कलाकार, जो बहुत दिनो तक विस्मृत रहा—और वेलास्क्वेज पुर्तगाली कलाकार—दोनो मे वह अतर जो दस्तोवेस्की और हेमिग्वे मे—एक आन्तरिक पीड़ाओ और भावनाओ का चितेरा, दूसरा दुनिया की सतह का हूबहू चित्र रख देने वाला । फिर वरमीयर जिसने साधारण मे विशेष का आरोपण किया । उसने देवी-देवता, राजा-रानी, अनुपम सुन्दरी असाधारण व्यक्तियो को छोडकर पनिहारिन, अहीरिन, सोनारिन या शहर की एक साधारण गली या नदी-तट के एक साधारण दृश्य का ऐसा चित्रण किया कि वे कला के अनुपम नमूने बन गए । अहीरिन के जो चित्र उसने १६८६ मे चौदह पौंड मे बेचे थे, वही दो शताब्दी बाद चौबीस हजार पौंड (साढे तीन लाख रुपये) मे खरीदे गए थे ।

गोया—किसान का बेटा, शारीरिक शक्ति और मेधाशक्ति दोनो मे राक्षस-सा । कलाकार, गवैया, तलवार चलाने मे उस्ताद, डाकुओ का सरदार । फ्रास के एक पहाडी गाव मे पैदा हुआ । झगडे में एक आदमी की हत्या करके स्पेन भाग गया । मैड्रिड में भी कलह हुआ तो रोम भागा । रोम मे रद्दियो का बाजार उसे सबसे प्रिय था और जब गिरजाघर की एक तसवीर पर लट्टू हुआ तो रात मे चोरी से घुसकर, मन्दिर से उसे उठा लाया ! स्पेन लौटकर शादी की तो उसकी बीबी

हमेशा गर्भ से ही रहती—बीस सताने हुई, जिनमे एक को छोड सबका असामयिक निधन हुआ !

कूची मे भी वैसा ही कमाल। चार्ल्स छठे ने अपना दरबारी चित्र-कार बनाया। किन्तु वहा भी वही वहक—सिंहासन, सेना, कानून सबके व्यग्यचित्र बनाए जाते। पादरियो की सूरत ऐसी बिगाडी जाती कि राजा के हस्तक्षेप ने ही उसे जिन्दा जलाये जाने से बचाया—कृतज्ञता मे उसके गिरजाघर मे तीन महीने के अन्दर सौ आदमकद चित्र बना दिए। लम्बी उम्र पाई थी—लगभग अस्सी वर्ष। कितने राजाओं को देखा, शहजादियो को देखा। एल्वा की डचेस का उसके जीवन मे खास स्थान है—वह उसकी चित्रशाला मे आया करती और कहा जाता है कि उसने जिस सुन्दरी का अनुपम नग्न चित्र बनाया है, वह यही सम्भ्रान्त महिला है।

क्या यह आश्चर्य की बात नही कि अबतक यूरोप की चित्रकला मे कोई अग्रेज नही आया ? इगलैंड के जिस चित्रकार ने यूरोप के कलाकारो मे सबसे पहले स्थान पाया, वह होगार्थ है—सत्रहवी शताब्दी के अत मे। अपने समय के अग्रेज-जीवन का सही चित्रण करने मे उसने कमाल किया है—कटु, मधु, क्रूर, दयालु, कामान्ध, साधु—सबको सही रूप उसने दिया। चित्रो मे कथा अकित कर देने की नई कला का आविष्कर्त्ता वही है। उसके जमाने मे गैरिक मशहूर अभिनेता था। होगार्थ कभी उसका अभिनय देखने नही गया। वह कहता—"मेरी चित्रशाला ही मेरा रगमच है, उसके नर और नारी उसके नट और नटी। फिर मै कही नाटक देखने क्यो जाऊँ ?"

एक अद्भुत चित्रकार था ब्लेक—जन्म से मृत्यु तक जो सपने देखता रहा और सपनो को जिसने मूर्तरूप दिया। यूरोप की कला अबतक 'मॉडेल' के आधार पर चलती रही। उसने गम्भीर घोष किया—"सामने मॉडेल रख लो और ऐसी तस्वीर बना दो कि आंखों को धोखा हो जाय—भला यह भी कोई कला है ? यदि प्रकृति की नकल करना ही कला हो, तब तो कला हाथ का कौशल-मात्र है—उसे कोई भी कर सकता है और बेवकूफ सबसे अच्छा कर लेगा, क्योकि दिमाग की

उसमे जरूरत कहा ?" यों अपने पूर्ववर्ती कलाकारो की भर्त्सना करता हुआ वह आगे कहता है—"अपनी कल्पना को उडान भरने दो। उसे तवतक विचरण करने दो जवतक तुम्हारी आखे उसे मूर्तरूप में न देखने लगे। बस, कला की नीव तैयार हो गई।" दाते की 'डिवाइन कॉमेडी" का जो चित्रण उसने किया, इस नई कला की उत्कृष्टता का स्थायी प्रमाण है।

ब्लेक का ही कला-सहोदर टर्नर—दोनो इगलैंड के। टर्नर ने कला को एक दूसरा ही रुख दिया। ब्लेक ने प्रकृति की उपेक्षा की, वह प्रकृति के गूढ रहस्यो की वैज्ञानिक की तरह छान-बीन करता और उन्हे मूर्तरूप देता रहा। वर्षों तक वह पैदल घूमता रहा, इंगलैंड के कोने-कोने को छान डाला और उन्हे चित्रो मे अमर कर दिया। धरती से उसे प्रेम था और समुद्र से उससे भी अधिक। तूफानो मे वह समुद्रो मे चला जाता और अपनेको मस्तूल मे वांध लेता कि तरगो के उत्थान-पतन और वादलो के चढाव-उतार को अच्छी तरह देख सके। उसने हजारो चित्रो के खाके वनाए और दो हजार तो पूरे चित्र हैं उसके। अन्त में वह रहस्यवादी बन गया—पहाडो का चित्रण वह सूर्य-रश्मियो के पुज में और नदी का चित्रण प्रकाश की धारा मे करता।

अमेरिका को जिसपर नाज है, वह है औडुवन। इसका जन्म फ्रान्स मे हुआ था। गरीव आदमी। जहाज पर नौकरी की, अमेरिका मे जा वसा। वचपन से ही कला मे रुचि—अमेरिका के पछियों को उसने अपने चित्रण का मुख्य केन्द्र वनाया और वह ससार के कलाकारो मे 'चिडियो के कलाकार' की हैसियत से प्रसिद्ध है, जिनके चित्रण के लिए वह जगलो, समुद्र-तटो, झीलो आदि के इर्द-गिर्द, जीवन के अधिकाश भाग मे, चक्कर काटता रहा। पछी जव गति में, क्रिया मे होते थे, तव का चित्रण उसे अधिक प्रिय था, इसीलिए उसके चित्र जीवनमय हैं, अमर हैं।

फिर फ्रास के तीन कलाकार—दोमिये, माने और लाउने। तीनों के तीन रग। दोमिये—कारटून का पिता। राजा के व्यंग्यचित्र पर जेल की हवा खाई। किन्तु न झुका, न रुका। जिन्दगी-भर गरीवी में रहा—

पेरिस मे उसकी कुटिया मे वडे-वडे लोग आते। एक दिन उनमे से एक कह रहा था—"अफसोस, दोमिये को इस वुढापे मे जीविका के लिए परेशान होना पडता है।" उसने सुन लिया, कहा—"मेरे दयालु मित्रो, मेरी परेशानी की चिन्ता मत करो, तुम लोगो के पास रियासतें हैं, मेरे लिए जनता है और मैंने जनता का ही वरण किया है।" सोन नदी के किनारे गरीव मछुओ को देखकर उसके मुह से आह निकली—"मेरी सांत्वना के लिए तो मेरी कला है, किन्तु हाय! इन बेचारे गरीब मर्द-औरतो के लिए?"

माने—यथार्थवादी चित्रण का आचार्य। वेचारे को यथार्थवादिता के लिए पूरी सजा भुगतनी पडी—'अश्लीलता का अवतार' 'सनसनीवाद का पिता'—क्या-क्या उपाधिया उसे नही दी गई। लेकिन एक दिन उसका लोहा सबको मानना पडा। वह उन्नीसवी सदी के सर्वोत्तम व्यक्तियो मे गिना जाने लगा।

लाउत्रे—वडे घराने का लाडला। घुडसवारी मे दोनो टाग तोड-कर पगु वन गया। उसके वाद वह समाज के निम्न स्तर मे घुसा—वेश्या-लयो, शरावघरो, जुआ-अड्डो का वह अखाडिया वन गया और उनके जीवन के ऐसे चित्र वनाए कि वे कला-भवनो के शृङ्गार वन गए। कहा जाता है, शब्दो की दुनिया मे जो मोपासाँ का स्थान है, रगो की दुनिया मे वही लाउत्रे का है।

कही कलाकार इतना कुरूप होता है—वान गौघ को देखकर कोई भी कह उठता। लम्बी नाक, चिपटा मुह, धसी आखे, मुडे लाल वाल—एक साथ ही वह किसान, कैदी और ईसाई शहीद मालूम होता। जिन्दगी भर प्यार पाने को छटपटाता रहा, हमेशा ही दुत्कार पाई। एक वार एक वेश्या से प्यार चाहा तो उसने कहा—"क्या उपहार मे अपने कान दोगे?" और, हजरत ने अपने कान काटकर भेज दिए।

लेकिन कुरूपता का वदला प्रकृति ने प्रतिभा का वरदान देकर प्रचुर मात्रा मे चुकाया था। इस उच्च कलाकार ने अपनी कूची से जो रचनाए की, वे ससार की उच्चतम कलाकृतियो मे गिनी जाती हैं और जिस प्रदर्शनी मे उसके चित्र रखे जाते हैं, वहा भीड लग जाती है। उसकी

मृत्यु भी विचित्र हुई। कान कटने से जो घाव हुआ, उसके लिए यह अस्पताल गया। एक दिन अस्पताल मे उसने अपने पेट मे गोली मार कर वगल के रोगी से कहा—"जरा निशाना आजमा रहा था।" और बस !

फिर सिजाने और अव हम आधुनिक चित्रकला मे पहुच गए। सिजाने की कला को ही लेकर पिकासो ने आधुनिक कला को जन्म दिया, जो अमूर्त, अभौतिक, वनकर अन्तत. छिटपुट रेखाए और अस्फुट चिह्नो तक पहुच गई है !

: ६ :

जो शब्दश: आचार्य थे

जब उस दिन सध्या को खबर मिली कि आचार्य नरेन्द्रदेवजी नही रहे तो लगा, जैसे एक ज्योतिपुज ग्रहपिड, शायद वृहस्पति, आखो के सामने ही टूट कर गिर पडा है। सारा वायुमडल थर्रा उठा, फिर सन्नाटा. सन्नाटा।

ज्ञान, कर्म, साधना। मानव-जीवन की तीन अनुपम उपलब्धिया। अपने देश मे बडे-बडे ज्ञानी हो गए हैं, कर्मवीरो की भी कमी नही रही। साधको की सख्या भी बडी है, किन्तु एक ही पुरुष मे ज्ञान, कर्म और साधना का पूर्ण समन्वय हुआ हो, ऐसे उदाहरण ससार मे विरल हैं, अपने इस महादेश मे भी। जहा ज्ञान वहा कर्म की कमी, जहा कर्म वहा साधना का अभाव। जहा तीनो एकत्र हो, वैसी त्रिवेणी तो किसी देश को परम सौभाग्य से ही मिल पाती है।

आचार्य नरेन्द्रदेव मे इन तीनो का ऐसा समन्वय हुआ था कि आज जब वह नही रहे, देश के राष्ट्रपति से लेकर साधारण आदमी तक उनका अभाव अनुभव कर रहा है। लगता है, हमारे जीवन मे, देश के जन-जीवन मे, एक ऐसा स्थान रिक्त हो गया है, जिसका भरा जाना सुदूर भविष्य मे भी सम्भव नही।

यो तो 'आचार्य' शब्द का आजकल दुरुपयोग हो रहा है, किन्तु इस शब्द के साथ ज्ञान की जिस गरिमा और महिमा का बोध होता है, वह आचार्य नरेन्द्रदेव मे पूर्णत प्रतिफलित हुई थी। ज्ञान की विविध धाराए उनमे आकर इस प्रकार समाहित हुई थी, जिस प्रकार सागर मे विविध नदिया। समाजशास्त्र के वह पडित थे, दर्शन के प्रकाड विद्वान, अर्थशास्त्र और राजनीति के मर्मस्थल को भी वह छू सके थे। इतिहास के उत्सस्थान तक उनकी पहुच थी। भारतीय दर्शन के भिन्न-भिन्न अगो का उन्होने मनन किया था, यूरोपीय दर्शन के अनुशीलन की ओर उनका

अनुराग था। कई भारतीय भाषाओं और यूरोपीय भाषाओं मे उनकी पैठ थी। ज्ञान की किसी धारा के सम्बन्ध मे उनसे बाते कीजिए, लगता था, आप किसी वायुयान चालक की बगल मे बैठे है, जो आपको ऊचे-से-ऊचे ले जाकर अतरिक्ष के उन रहस्यो को प्रत्यक्ष दिखला रहा है, जिनकी आपने कल्पना तक नही की थी।

भारतीय दर्शन मे बौद्ध दर्शन ने उन्हे अधिक आकृष्ट किया था। भारतीय दर्शन का चरम उत्कर्ष वह बौद्धधर्म मे मानते थे। इसी प्रकार यूरोपीय दर्शन मे मार्क्स के द्वन्द्वात्मक दर्शन को वह आधुनिक युग के लिए प्रकाश-स्तम्भ समझते थे। ज्ञान के क्षेत्र मे वह पूरब पच्छिम के भेद को नही मानते थे। ऐसा करना वह ज्ञान को सीमाओ मे बाधने की तरह गर्हित मानते थे। इसीलिए वह अन्त तक अपनेको मार्क्सवादी कहने में नही हिचकते थे। किन्तु यहा भी उनका मार्क्सवाद कट्टरता का सहचर नही था। हर दर्शन की तरह मार्क्सवादी दर्शन को भी वह विकासशील समझते थे और इसमे शक नही कि उसके भारतीय प्रयोग मे उन्होने अनेक नई कडिया जोडी थी। चूकि उन्होने अपनेको सदा घन-घोर राजनीति मे रखा, अत उनके द्वारा जोडी गई उन कडियो पर निरपेक्षता से ध्यान नही दिया जा सका, किन्तु अब जब वह नही रह गए, उनकी ओर लोगो का ध्यान जायगा ही।

उनके ज्ञान के सम्मुख उन्हे भी सिर झुकाना पड़ता था, जो राज-नीति मे उनके विचारो से सहमत नही थे। श्री पट्टाभि सीतारमैया ने अपने अहमदनगर-जेल के सस्मरण मे लिखा है कि हमारे साथ जो लोग थे, सब-के-सब अपने विषय मे अन्यतम थे। सरदार पटेल, प० जवाहर-लाल नेहरू आदि की विशेषताओ की चर्चा करते हुए 'विद्वता मे अन्य-तम' उन्होने आचार्य नरेन्द्रदेव को ही माना था।

अपने इस अगाध ज्ञान का उन्होने उन्मुक्त दान दिया। काशी विद्यापीठ के आचार्य की हैसियत से उन्होने देश को कितने ऐसे स्नातक दिए, जो देश के विभिन्न क्षेत्रो में जाज्वल्यमान नक्षत्र की तरह चमक रहे हैं। यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि स्वतत्र भारत को जितने योग्य शासक, जितने जनसेवक आचार्यजी ने दिए, उतने किसी भी एक

व्यक्ति या सस्था ने नही दिए । देवघर से दिल्ली तक उनके शिष्यो का जाल फैला है, और जो जहाँ हैं, वहा अपनी योग्यता और कर्मठता का सिक्का जमाए हुए हैं ।

उत्तर भारत के दो प्रमुख ज्ञान केन्द्रो, लखनऊ विश्वविद्यालय और हिन्दू विश्वविद्यालय, का उपकुलपति के रूप मे सफल सचालन करके उन्होने भारतीय शिक्षा के क्षेत्र मे अपनी स्थायी छाप छोडी है । निकट से जाननेवाले जानते हैं कि इन सस्थाओ का सचालन-सूत्र उन्होने किस अव्यवस्थित दशा मे सम्हाला था और जब उन्होने इनसे विदा ली, किस सुव्यवस्था मे इन्हे छोडा । शिक्षा, भाषा, लिपि, आदि के लिए जब-जब किसी आयोग की रचना की गई, आचार्यजी को भुलाया नही जा सका और उनमे उनकी स्थिति अध्यक्ष की रही हो या सदस्य की, उनकी रिपोर्टो मे आचार्य के व्यक्तित्व की छाप अलग से ही परिलक्षित होती थी ।

प्राय देखा जाता है, जो ज्ञान के क्षेत्र का महान व्यक्तित्व है, वह कर्म के क्षेत्र मे बौना ही सिद्ध हुआ है । आचार्य नरेन्द्रदेवजी इसके विपरीत उदाहरण थे । एक मेधावी विद्यार्थी की हैसियत से ही देश के सार्वजनिक कार्यो मे उन्होने सक्रिय भाग लेना प्रारम्भ किया था और जब महात्मा गाधी ने असहयोग आन्दोलन का शखनाद किया, उनके आह्वान पर पहली कतार मे खडे होनेवाले राष्ट्रकर्मियो मे वह थे । वकालत छोडकर वह सक्रिय राजनीति के क्षेत्र मे आए और काशी विद्यापीठ के आचार्य-पद को सुशोभित करते हुए वह जन-आन्दोलन को कभी नही भूले और न अपने सहयोगियो और शिष्यो को ही भूलने दिया । काशी विद्यापीठ सिर्फ विद्यापीठ नही थी, वहा ज्ञान के साथ कर्म का पाठ भी पढाया जाता था और वहा के शिक्षको और छात्रो ने देश की स्वतन्त्रता के युद्ध मे वह शानदार हिस्सा लिया कि अपने नामो के साथ अपनी इस सस्था को भी अमर कर दिया ।

१९३० के सत्याग्रह-आन्दोलन के साथ पूर्णरूप से आचार्यजी राजनीति के कर्मक्षेत्र मे कूद पडे । राजनीति मे भी पिटी-पिटाई लीक पर न चलकर उन्होने एक नया कदम रखा । उनका गहरा अध्ययन उन्हे

समाजवाद की ओर उन्मुख कर चुका था, अत जब '१६३४ मे अखिल भारतीय समाजवादी दल का सगठन हुआ, उसका अध्यक्षपद स्वभावतः उन्हे अर्पित किया गया। यह बहुत कम लोगो को मालूम है कि जब समाजवादी दल के सगठन के लिए हम पटना मे प्रारम्भिक अधिवेशन करने जा रहे थे तो प० जवाहरलाल नेहरू के ही सत्परामर्श से हमने आचार्यजी को उसका अध्यक्ष चुना था। तब से मृत्यु-पर्यन्त वह इस दल के प्रमुख स्तम्भ रहे। यह भी विधाता का ही विधान है कि समाजवादी दल के अध्यक्ष के रूप मे ही उन्होने अखिल भारतीय राजनीति मे प्रवेश किया और दल के अध्यक्ष की हैसियत से ही उनका स्वर्गारोहण हुआ। दल का बाईस वर्षो का जीवन उनके जीवन के साथ ओत-प्रोत रहा।

समाजवादी दल ने काग्रेस के अन्दर रहकर काम करना तय किया था। आचार्यजी ने काग्रेस को क्या दिया, इसका अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि अपनी मृत्यु के पहले महात्माजी काग्रेस की गद्दी पर आचार्यजी को अधिष्ठित करना चाहते थे। यदि ऐसा हो गया होता तो भारत के इतिहास ने एक नया ही मोड लिया होता। अपने गहरे ज्ञान और अथक कर्मशीलता के कारण वह एक युग तक उत्तर प्रदेशीय काग्रेस का सूत्र सचालन करते रहे। जब १६३७ मे भारत मे प्रथम बार काग्रेसी मन्त्रिमडल की स्थापना हुई तो उत्तर प्रदेश का मुख्य-मंत्रित्व उनको सौंपने की इच्छा प्रकट की गई थी, किन्तु चूंकि समाजवादी दल ने अपने सदस्यो को किसी पद के ग्रहण करने से मनाही कर दी थी, आचार्यजी ने अनेक आग्रहो के बावजूद अपनेको इस पद से अलग ही रखा। समाजवादी दल के इस निर्णय मे आचार्यजी का प्रमुख हाथ था। तो भी प० जवाहरलाल नेहरू ने काग्रेस-कार्यसमिति मे उन्हे सादर सम्मिलित किया और उसके सदस्य की हैसियत से देश के गाढे अवसर पर देश की रहनुमाई मे उन्होने जिस योग्यता से हाथ बटाया, उसे कौन नहीं जानता?

जब समाजवादी दल में काग्रेस से पृथक होने की चर्चा छिड़ी, आचार्यजी उस विचार के विरोधियों में थे। उन्होने अपनी स्वाभाविक

विनोदमयी भाषा मे कहा था, "हम वैसे आशिक हैं, जो माशूक के दरवाजे पर तबतक पडे रहेगे जबतक वह बेवफा हमारी गर्दन मे हाथ लगाकर अपने अहाते से बाहर न कर दे।" किन्तु जब बम्बई मे काग्रेस ने यह निर्णय किया कि काग्रेस के अन्दर किसी पार्टी का अस्तित्व नही स्वीकार किया जा सकता तो उन्हीकी अध्यक्षता मे नासिक मे काग्रेस से अलग हो जाने का निर्णय किया गया। आचार्यजी के कितने ही प्रिय साथी और शिष्य उनसे बिछुड गए, किन्तु वह अपनी जगह पर अटल और अडिग डटे रहे।

समाजवादी दल ने किसानो और मजदूरो के सगठन की ओर ध्यान दिया। मजदूरो का सगठन तो कुछ था ही, किन्तु भारतीय किसानो का कोई सगठन नही था। जब पहली बार अखिल भारतीय किसान-सम्मेलन का आयोजन किया गया, सर्वसम्मति से उसका अध्यक्ष आचार्यजी को ही चुना गया। उसके अध्यक्ष-पद से दिया गया उनका भाषण भारतीय किसानो की आकाक्षाओ और आशाओ का वह दस्तावेज है, जो आज भी अपना मूल्य नही खो सका है। जब दूसरा विश्व-युद्ध छिडा, फिर दूसरी बार अखिल भारतीय किसान-सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए उन्होने भारतीय किसानो को क्राति के लिए आह्वान किया और १९४२ की क्राति मे भारतीय किसानो ने जो योगदान दिया, आचार्यजी को उस-से बडा ही सन्तोप था।

आचार्यजी साम्राज्यवाद से समझौते के घोर विरोधी थे। देश के बटवारे का उन्होने जबर्दस्त विरोध किया था। इसी प्रकार भारत अग्रेजी कामनवेल्थ के अन्दर रहे, यह स्थिति भी उनके लिए असह्य थी। किन्तु उनके विरोध मे कही कटुता या व्यक्तिगत ईर्ष्या, द्वेष का नाम न था। वह सदा एक ऐसे ऊँचे स्तर से बोलते थे कि जिनका वह विरोध करते थे, वे भी उनकी कदर करते थे। राजनीति मे व्यक्तिगत राग-द्वेष को वह सदा घृणा की दृष्टि से देखते थे और अपनेको सदा उससे दूर रखते थे। गाधीजी से कई बातो मे उनका मतभेद था, किन्तु आचार्यजी के इन्ही गुणो के कारण गाधीजी का पूर्ण स्नेह उन्हे प्राप्त था। क्रिप्ससाहब दिल्ली पहुँचे उन दिनो की बात है। देशके भाग्य-निर्णय के विषय मे गम्भीर परामर्श चल रहा था।

गांधीजी दिल्ली छोडकर वर्धा को चले। पत्र-प्रतिनिधियो ने उनसे पूछा, "आप कुछ दिन और क्यों नही ठहर जाते ?" गांधीजी ने जवाब दिया, "एक डाक्टर अपने रोगी को किस प्रकार भूल सकता है ?" वह रोगी और कोई नही, आचार्य नरेन्द्रदेव थे, जो उन दिनो दमे से अत्यधिक पीडित होकर गाधीजी के निमन्त्रण पर सेवाग्राम पहुंच गए थे और गाधीजी उनकी प्राकृतिक चिकित्सा कर रहे थे।

उनके दुबले-पतले शरीर को दमे ने बहुत दिनो से झकझोर रखा था, किन्तु इस असाध्य और कष्टदायक रोग के बावजूद उन्होने अपने कार्य में कभी कमी या त्रुटि नही आने दी। इस रोग से लडते हुए भी वह दिन-रात काम मे लगे रहे। पिछली गर्मियो की बात है। समाजवादी दल में फूट पडी थी। उसके अस्तित्त्व पर सकट के बादल मडराते दीखते थे। अचानक आचार्यजी ने उत्तर प्रदेश और बिहार का दौरा शुरू कर दिया। इन पंक्तियो के लेखक ने काशी मे उनसे कह दिया, "यह आप क्या कर रहे हैं ?" उन्होने अपनी स्वाभाविक मुस्कान से कहा, "सवाल आ गया है, मैं अपनेको बचाऊ और पार्टी को मरने दू, या पार्टी को जीवित रखा जाय और अपनेको मारू ? मैंने इस दूसरे को चुन लिया है।"

किन्तु यहा समझ लेना है कि पार्टी का अर्थ उनके सामने क्या था ? पार्टी का सकुचित रूप उनके सामने कभी नही रहा। जनतन्त्र के साथ वह विरोधी पक्ष की नितान्त आवश्यकता समझते थे और विरोधी पक्ष सत्तारूढ पक्ष से अधिक क्रातिकारी हो, तभी देश का कल्याण सध सकता है। विरोधी पक्ष छोटा ही क्यो न हो, किन्तु उसकी आस्था दृढ होनी चाहिए, उसके कदम सही पडने चाहिए, उसमे उच्च चरित्र और अटूट अध्यवसाय होना चाहिए, तब छोटा होकर भी वह सत्तारूढ पक्ष को प्रभावित कर सकेगा, उसे अपने लक्ष्यो की ओर खीच सकेगा।

कर्म ! कर्म ! कर्म ! उनका सारा जीवन कर्ममय था। जब मृत्यु का घेरा उनके निकटतर पहुचता जाता था, उन्होंने अपने कर्म-दीपक की लौ को और भी ऊँचा कर दिया था। मृत्यु के तीन दिन पूर्व वह पार्टी की कार्यसमिति में जाकर एक घण्टे तक अपना विचार सुना आए थे।

अपने 'बौद्ध दर्शन' के शेषाश को पूरा करने मे वह अन्त तक लगे हुए थे। देश का हित-चिन्तन करते हुए ही उनकी अन्तिम सास टूटी।

आचार्य नरेन्द्रदेव उन साधको मे थे, जिनकी साधना पर देश को सदा अभिमान रहेगा। इस दृष्टि से वह आर्ष ऋपियो की कोटि मे थे, सारे जीवन को मोमवत्ती की तरह घुलघुलकर उन्होने जलाया कि दूसरो को—समाज को, देश को, ससार को प्रकाश मिलता रहे। उनका जीवन ऋषियो का जीवन था—त्यागमय, तपस्यामय। भोग का, वैभव का कभी सपने मे भी उन्होने विचार नही किया। उन्होने सदा अपनेको अकिंचन रखा। एक बार पूज्य राजेन्द्रबाबू ने सदाकत-आश्रम मे, स्वराज्य के पूर्व, कार्यकर्ताओ को सावधान करते हुए कहा था, "जहा तपस्या होती हैं, उसे विचलित करने के लिए, अपने पुराणो मे कहा गया है, अप्सराए आती हैं, ऋद्धि-सिद्धिया आती हैं, आप लोग सावधान रहिएगा।" आजादी के बाद हमारे तपस्वियो के निकट इनका हगामा-सा जुट गया, और कितने लोग हैं जो विचलित होने से बचे ? उन इने-गिने लोगो की जब मणिमाला वनाई जायगी, आचार्यजी उसके 'सुमेरु' सिद्ध होगे। वह क्या नही प्राप्त कर सकते थे, किन्तु कभी निगाह उठाकर भी उनकी ओर नही देखा।

वडे-से-बडे आदमी की सवसे बडी कमजोरी होती है कीर्ति-लालसा। कीर्ति के लिए, यश के लिए, प्रसिद्धि के लिए वे लोग भी झुक जाते हैं, जो ससार के सारे ऐश्वर्यो को ठुकराने से नही झिझकते। कीर्ति-लालसा पर अकुश रखना ससार की सबसे बडी साधना है। इस साधना की कसौटी पर भी आचार्यजी को कई बार कसा गया और वह सदा खरे निकले। वह अजातशत्रु थे, किन्तु प्रमादवश जिन्होने अपनेको उनका प्रतिद्वन्द्वी समझा था, उनके सिर भी आचार्यजी की इस साधना के निकट अनेक बार झुके और अपनी मृत्यु के बाद तो आचार्यजी ने सिद्ध कर दिया कि यथार्थत उनका कोई प्रतिद्वन्द्वी था ही नही। वह सवके थे, उन्हे खोकर सारे देश ने अनुभव किया, उसने कोई अपना खोया है। आचार्यजी की अनुपम साधना की यह सवसे बडी विजय है।

ज्ञानी, कर्मयोगी, साधक इन तीनो आचार्य नरेन्द्रदेव के अतिरिक्त

एक और आचार्य नरेन्द्रदेव थे, वह थे मानव नरेन्द्रदेव। और यह मानव नरेन्द्रदेव इन तीन आचार्य नरेन्द्रदेव से ऊपर थे, यह कहने की धृष्टता मैं इसलिए करता हू कि उनके निकट सम्पर्क मे आनेवाले मेरे-जैसे छोटे व्यक्तियो को उसी नरेन्द्रदेव ने सबसे अधिक प्रभावित किया था। उनका दरबार सबके लिए खुला था। हा, सचमुच उनका दरबार लगता था। किन्तु उसके दरवाजे पर न कोई चोबदार होता और न अलग-अलग दर्जे के 'मनसबदार'। वहा सबका अबाध प्रवेश था, सबके लिए एक-सा आसन था। सबका स्वागत घनी मूछो के नीचे की अमद मुस्कराहट से होता था, सबकी कुशल-वार्ता झुर्रीदार चेहरे पर सतत खेलनेवाले उल्लास से पूछी जाती थी। वहा विद्यार्थी आते थे, शिक्षक आते थे, आचार्य आते थे, कुलपति आते थे, कार्यकर्ता आते थे, नेता आते थे, राज्य-कर्मचारी आते थे, मिनिस्टर आते थे, कवि आते थे, लेखक आते थे, किसान आते थे, मजदूर आते थे, सेठ आते थे, तालुकेदार आते थे, देविया आती थी, देवता आते थे—सबकी अपनी-अपनी समस्या, सबकी अपनी-अपनी बात। और सबके लिए एक-सा सरल, सादा, निष्कपट, निश्छल निबटारा क्या कोई उस दरबार से निराश लौटा ? जिसे कुछ न मिला, जिसे कुछ खोना पडा, उसने भी अनुभव किया, वह जो मागने आया था, उससे भी अधिक उसे मिल गया, जो खो दिया, उसमे अधिक वह पा गया। बात-बात मे चुहल, बात-बात मे विनोद। कडवे घूट भी मिश्री मे घुले। वहा से मुहर्रमी चेहरे भी मुस्कराहट लिये निकलते।

इस मानव आचार्य नरेन्द्रदेव मे एक चुम्बकत्व था। उस चुम्बकत्व का अनुभव उनके निकट जानेवाले तुरन्त ही अनुभव करने लगते थे। लगता था, किसी अदृश्य डोर से वह निकटतर खिचे जा रहे हैं। लखनऊ वही है, किन्तु कौन किसीको स्टेशन मे सीधे खीचकर नए हैदराबाद की उस नन्ही काटेज तक ले जायगा ? चुम्बक उठ गया। हम लौहखड सचमुच लौहखड बन गए—ठडे, निर्जीव, निस्पद।

: ७ :

कोई सुखी नहीं

अान्द्रे मावरोई फ्रास का सुप्रसिद्ध लेखक है। अपनी लेखनी के कारण उसने विश्वव्यापी कीर्ति पाई है। पैसे भी खूब कमाए हैं। जीवनी लिखने मे तो उसने कमाल हासिल किया है। शेली की जीवनी उसने जब 'एरियल' के नाम से प्रकाशित की, साहित्य-ससार मे उसकी धूम मच गई। जब वह आदमी अपनी आत्मकथा का नाम 'कौल नो-मैन हेपी'—('ससार मे कोई सुखी नही') रखता है तो आश्चर्य होता है।

यह आत्मकथा उसने पिछले महायुद्ध मे फ्राम के पतन के बाद लिखी थी, जब वह अपने देश से भाग कर अमेरिका चला गया था। स्वभावत उसके जीवन पर उन दिनो दुख और शोक की काली घटा छाई थी। इस आत्मकथा के पन्ने-पन्ने पर वह छाया परिलक्षित होती है।

मध्यवर्ग के एक व्यापारी का पुत्र। पढने-लिखने मे बहुत तेज। अनायास अपने वर्ग मे प्रथम आता रहा। लेख लिखने की अखिल फ्रासीसी प्रतियोगिता मे प्रथम आया। एम० ए० की पढाई समाप्त करने के बाद फौजी शिक्षा ली। फिर अपने खान्दानी पेशे मे लगा—ऊन की एक मिल थी, उसके सचालन का भार लिया, बडी योग्यता से चलाया। मिल की आय काफी बढ गई।

इसी समय एक लडकी से परिचय। बडी सुन्दरी, किन्तु अनाथ। उसे इगलैंड भेजकर पढाया, फिर शादी की। शादी के प्रारम्भिक दिन बडे मजे मे कटे। अचानक १९१४ की लडाई शुरू हुई। फौज मे भर्ती हुआ। अग्रेजी जानता था, इसलिए अग्रेजी फौज के साथ दुभापिए के रूप मे रखा गया।

बचपन से ही लेखक बनने की आकाक्षा। उपन्यास लिखने की ओर प्रवृत्ति। एक उपन्यास लिखा। छापने को भेजा, लेकिन प्रकाशित नही

कराया। युद्धभूमि मे लिखने की प्रवृत्ति बढी। 'कर्नल ब्रैम्बल' नामक पुस्तक यही लिखी। मित्रो ने कहा—"छपवाओ।" लेकिन छपे कैसे? फौजी जीवन का चित्रण—खासकर अंग्रेजी अफसरो का। चित्रण में उज्ज्वल पक्ष ही, लेकिन फौज आखिर फौज है। तय हुआ, किसी उप-नाम से प्रकाशित हो। मूल नाम था इमिल हर्जोग। उपनाम रखा—आन्द्रे मावरोई—आन्द्रे, चचेरा भाई जो इस युद्ध में मारा गया था, मावरोई एक गाव का नाम, जिसके करुण सौन्दर्य से वह विशेपतः प्रभावित था। आगे चलकर यही नाम जगद्विख्यात हुआ।

अध्ययन के दिनो मे मावरोई एक अध्यापक से बहुत प्रभावित हुआ था, उसका नाम था अलेन। दर्शन का अध्यापक था, मौलिक विचारक। उसके कुछ विचारोत्तेजक कथन देखिए—सत्य के सम्मुख सम्पूर्ण हृदय से जाओ। सोलह वर्ष की उम्र मे जो अराजकतावादी नही हुआ, उसमें तीसवें वर्प मे इतनी शक्ति नही रह जायगी कि भाड झोके। अब भग-वान को ही आदमी के निकट आना है। किसी भी प्रमाण का मेरे निकट कोई मूल्य नही। छ महीने के रास्ते को छोडकर वर्ष भर का रास्ता पकडो। छोटे दिमाग के लोग तो छोटे दिल से प्रशसा करते हैं।

अपनी इस आत्मकथा मे मावरोई ने बताया है कि वह क्यो सदा मध्यम मार्ग पकडता रहा। एलेन के प्रभाव से कुछ दिनो तक वह समा-जवादी हुआ, लेकिन मुख्यत वह सुधारवादी ही है। हा, अपने देश फ्रास के लिए उसमे असीम भक्ति है और वह अग्रेजी शिष्टाचार का उपासक है। वह किपलिंग को बहुत सम्मान की दृष्टि से देखता था और उससे मुलाकात भी की थी।

पहले युद्ध से लौटने के बाद उसकी प्रवृत्ति साहित्य की ओर झुकी। 'कर्नल ब्रैम्बल' की बडी तारीफ हुई, सस्करण-पर-सस्करण होते गए। पाच हजार, दस हजार, बीस हजार, पचास हजार। बडे-बडे लोगो ने तारीफ लिखी—अनातोले फ्रास ने भेंट करने को बुलाया। अग्रेजी कमाडर-इन-चीफ ने भी तारीफ की और फ्रास के तत्कालीन राष्ट्रपति क्लीमैंसो ने भी बधाई दी।

अब व्यापार के साथ पुस्तक-लेखन। दिनभर मिल की निगरानी,

शाम और रात को लिखना-पढना। कई पुस्तके प्रकाशित हुई। फ्रास के सुप्रसिद्ध लेखको से जान-पहचान। जीदे से चार्ल्स दुबोस, एने देसजार दिन्स आदि से। एक बार जीदे ने पूछा—

"अब क्या लिख रहे हो ?"

"शेली की जीवनी।"

"क्यो ? मेरे घर आओ न, उसे जरा देख लूगा। तुम्हारा घर यहा से दूर नही है।"

"किन्तु, पुस्तक पूरी नही हुई है।"

"यही तो चाहिए। जो चीज पूरी हो गई होती है, उससे मेरी दिलचस्पी नही रहती। अधूरी चीज को ही तो कुछ सुधारा जा सकता है।"

शेली की इस जीवनी का नाम रखा गया 'एरियल'। 'एरियल' ने मावरोई की धाक साहित्य-जगत मे जमा दी। अब उसने तय किया कि व्यापार मे अपना समय नही लगावेगा। उसे भाई-भतीजो को सौप कर सरस्वती की पूर्ण आराधना मे लग गया। इगलैड गया, बडे-बडे लोगो से मिला। वहा भी प्रशसा-ही-प्रशसा मिली।

पारिवारिक जीवन मे तीन बच्चे आए—दो बेटे, एक बेटी। किन्तु पत्नी इधर उदासीन रहने लगी। धीरे-धीरे वह बीमार हुई और चल बसी।

शोक मे ही निमग्न था कि एक दूसरी स्त्री ने प्रवेश किया—ऐसी स्त्री, जिसका सम्बन्ध फ्रास के बडे-बडे लोगो से था। आन्द्रे जब उसके बारे मे लिखना शुरू ही करता है तो तुरन्त कल्पना होती है, यह स्त्री उसकी कुछ होने तो नही जा रही ? मार्सेल प्राउस्ट, अनातोले फ्रास ऐसे लोग इस पर तभी आसक्त थे, जब यह छोटी बच्ची थी। सुन्दर चेहरा, सुन्दर व्यवहार, सुन्दर लिखावट। और, अन्तत यही होता है, वह मावरोई की अर्धागिनी बन जाती है—योग्य अर्धांगिनी। यह एक बडे खान्दान से थी, जहा फ्रास के प्रेसिडेन्ट, प्रधानमत्री, महान कलाकार, बडे-बडे सेनापति आया करते थे। इस विवाह से मावरोई ने बहुत-कुछ प्राप्त किया।

इसी प्रसंग मे मावरोई ने फ्रास के दो राजनीतिज्ञो का वड़ा सुन्दर चित्रण किया है—पोईकेर और ब्रिया का। दोनो आन्द्रे की ससुराल के परिवार मे आते, किन्तु कभी एक समय नही। पोईकेर वकील, ब्रिया कवि। पोइकेर को तथ्य और अक चाहिए, ब्रिया को इससे घृणा। पाईकेर अपना भाषण अपने हाथों से लिख कर तैयार करता, ब्रिया सिगरेट वनाता, धुआ उड़ाता, धुआधार वोलता जाता। पोईकेर को जनमत से भय वना रहता, ब्रिया अपने वारे मे लिखी गई आलोचना को पढता भी नही। एक कहावत मशहूर थी—पोईकेर जानता सव कुछ है, किन्तु समझता कुछ नही और ब्रिया जानता कुछ नही, समझता सवकुछ है। दोनो की ईमानदारी उच्चकोटि की। एक वार अपनी किताव का प्रूफ भेजना था, तो अपने सेक्रेटरी से पोईकेर ने कहा—देखो, यह मेरा निजी काम है। मिनिस्ट्री के किसी चपरासी को मत भेजो। यह लो पाच फ्राक, किसी आदमी को देकर भेज दो। और ब्रिया के पास तीन करोड फ्राक विदेशी विभाग के थे, जिसे खर्च करने का एकमात्र अधिकार उसीको था, किन्तु जव उसने आफिस छोडा, पूरी रकम एक-एक पाई लौटा दी। उसके वाद जो मत्री हुए, उन्होंने ब्रिया के वारे में कहा था—उसमे जो कुछ ऐव ढूढिए, वह ईमानदार हद दर्जे का था। यदि वह चाहता, तो इन पैसो से कुछ ही अखवारो पर खर्च करके फ्रास का राष्ट्रपति मजे मे वन सकता था।

इस नई दुलहिन के वाद आन्द्रे के जीवन का नया क्रम शुरू हो जाता है। नई-नई रचनाए, नए-नए अनुभव। अमेरिका की यात्रा। अमेरिका के जीवन और यौवन मे प्रभावित। एक मित्र को लिखा—"आओ, यदि जीवन और मानवता पर विश्वास हो तो अवश्य आओ। आओ, कुछ महीनो के लिए आओ और कई सदियो की नौजवानी हासिल करो।"

इसी समय एक दुष्ट आलोचक से उसका पाला पडा। 'एरियल' की आलोचना करते हुए उसने तुहमत लगाई कि आन्द्रे ने अग्रेजी जीवन की भद उडाई है। आन्द्रे वहुत अशो में अग्रेजी जीवन का भक्त, फिर यह तुहमत! मावरोई ने इन निन्दको के विषय मे लिखा है—"हमारे सर्वोत्तम काम

हमारे लिए उतने मित्र नही पैदा करते, जितने शत्रु हमारी छोटी-छोटी भूले पैदा कर देती हैं। अनजाने ही मैंने कुछ लेखको के दिल दुखाए—अपने आध्यात्मिक गुरूओ मे उनके नाम नही गिनाए, अपने घर बुलाकर उन्हे दावते नही खिलाई, उनके लेखो की तारीफ नही लिख भेजी और सबसे बढकर उन्होंने जो अपनी पुस्तके भेजी, उनपर प्रशसात्मक आलोचना नही लिखी। यह मेरी बडी भूल थी।" लेकिन इस निन्दा के कारण फ्रास के सुप्रसिद्ध लेखको ने मावरोई के पक्ष मे लेखनी उठाई—हानि से अधिक लाभ हुआ।

अनेक रचनाओ मे 'वायरन' फिर चमकी। शेली से अधिक इसपर मेहनत भी की गई थी। वायरन के घर को देखा, उसके जीवन से सम्बन्धित स्थानो को देखा, उसके अप्रकाशित पत्रो को पढा, तब इसे लिखना प्रारम्भ किया। 'शेली' जैसी रोचकता इसमे नही, किन्तु विद्वानो से यह बहुत आदर पा सकी।

लडाई के बाद फ्रास की दुर्दशा। मन्त्रिमडल बनते, बिगडते। पूजीपतियो और मजदूरो मे सघर्ष। सोशलिस्टो और कम्युनिस्टो मे सघर्ष। उधर जर्मनी मे हिटलर का उदय। फ्रास पर खतरा। साहित्यिक का कोमल हृदय जर्जरित। किन्तु क्या करे बेचारा ? रचनाए चलती रही—खासकर जीवनिया, जिसके लिए उसे प्रसिद्धि प्राप्त हो गई थी और बीच-बीच मे उपन्यास। उसके लिखे 'इगलैंड का इतिहास' का भी अच्छा स्वागत हुआ।

और अन्त मे सबसे बडा सम्मान—फ्रेंच एकेडमी की सदस्यता प्रदान की गई। फ्रेच एकेडमी यह अजीव सस्था ! इसके सदस्यो की सख्या उस समय उनतालीस थी। मावरोई को पहली बार असफलता मिली थी। एक मित्र ने कहा—"घबराओ नही, विक्टर ह्यगो को तीन बार असफलता मिली थी। इकत्तीस वोट मे तुम्हे ग्यारह मिले, यह सौभाग्य भी क्या कम है ?" किन्तु इस दूसरी बार मार्शल पेता जैसे लोग उसके समर्थक थे। सदस्यता की दरखास्त पर भी बहुत-कुछ निर्भर रहता है—वह सक्षिप्त हो, उसमे सादगी हो, उसमे अलकार न हो, फिर उनतालीस व्यक्तियो से मिलना, जिनमे लेखक हैं, वैज्ञानिक हैं,

सेनापति हैं, मंत्री हैं, राजदूत हैं। एक-से-एक वढकर। मावरोई का प्रतिद्वद्वी भी मामूली नही था। वडी कशमकश रही। अन्त मे उन्नीस-तेरह वोट से विजय मिली। विजय के वाद उसका एकेडमी-भवन मे शाही स्वागत। २२ जून, १९३९।

और, उसके वाद, मावरोई लिखता है—जब-जब अनुभव किया कि मैं वहुत सुखी हू, अप्रत्याशित आपत्ति आ ढही। शायद देवताओ को मनुष्य के आनन्द से ईर्ष्या होती है।

जर्मन ने दूसरे विश्वयुद्ध का प्रारम्भ कर दिया। पोलैंड पर चढाई। मावरोई के दोनो वेटे, दामाद युद्धक्षेत्र मे गए। उसने भी अपनी सेवा अर्पित की। अग्रेजी जानने के कारण वह फिर अग्रेजी फौज का ल्याजा अफसर वनाया गया।

युद्ध के समय फ्रास की हालत—नौजवानो मे जोश, सैनिको मे जोश, किन्तु अस्त्र-शस्त्र प्राप्त नही। न वन्दूक, न तोप, न वायुयान, न गोले। क्या खाकर वे जर्मनो को रोक सकेंगे? मेजिनो लाइन—किन्तु यदि जर्मन सेना वेलजियम के रास्ते से आ गई तो? और वही हुआ। जर्मन-सेना वाढ की तरह वढती आई, फ्रास को पदाक्रात किया। मावरोई मुश्किल से इगलैंड पहुचा और वी० वी० सी० के माइक से वोला—आप फ्रास की मदद कीजिए, किन्तु कव? १९४१ मे नही, अगले महीने नही, कल नही—आज इसी घडी, इसी क्षण। किन्तु क्या सभव था?

फ्रास का पतन हुआ। जव इस पतन का समाचार मावरोई को मिला, वह कमरे के भीतर चला गया, विछावन पर वेतहाशा गिर गया और वच्चो की तरह फफक-फफक कर रोने लगा।

इगलैंड से अमेरिका। वही यह आत्मकथा लिखी—न्यूयार्क सिटी, ८ अक्तूवर, १९४१—पुस्तक के अन्त मे यह दर्ज है।

: ८ :

विनोबा के साथ दो दिन

"आप लोग तो भ्रमर हैं। जहा सुगन्ध होगी, विना बुलाए पहुच जायगे। मैं जो काम कर रहा हू, लगता है, उसमे वह सुगन्ध नही आ सकी है कि आप लोग पहुच सके। किन्तु निवेदन करूगा, देश मे जो एक महान क्रान्ति हो रही है, आप उसे देखे।"

"वाणी द्वारा ही भीतर और बाहर का मिलन होता है। वाणी ही अन्तर्जगत का बहिर्जगत से समागम कराती है। आप उसी वाणी के वरद पुत्र हैं। आपकी वाणी का वरदान इस यज्ञ को भी प्राप्त हो, यही मेरी कामना है। किन्तु यह वरदान आप तभी दे, जब वह हृदय से निकले। हृदय मे स्फुरण न हो, तव भी आप कुछ कहेगे तो वह फलदायी नही होगा। हृदय से निकली वाणी ही हृदय को स्पर्श करती है।"

ऊपर के ये दो उदारण मैं अपनी डायरी के पन्नो से दे रहा हू, जो ३-८-५३ को गया मे लिखे थे। सत विनोबा के प्राइवेट सेक्रेटरी का तार पाकर मैं उनसे मिलने गया पहुचा था। कुछ और साहित्यिक वन्धु भी थे। हमे सम्बोधित करते हुए सत ने जो एक प्रवचन दिया था, उसी के ये दो अ श हैं। सत ने पटना मे, तथा गया मे भी, आग्रह किया था कि हम उनके साथ कुछ दिनो तक घूमे और स्वय देखे कि इस आन्दोलन के तत्व क्या हैं? मैने कहा था कि जब आप मेरे जिले मे आयगे, आपकी सेवा मे उपस्थित होऊगा।

जब खबर मिली, विनोवाजी ३१ तारीख की भोर मे दरभगा जिले से मुजफ्फरपुर जिले मे प्रवेश कर रहे हैं और सयोग से मेरे थाने, कटरा मे ही उनका प्रवेश हो रहा है तो मुझे अपने वादे की याद आई और मै दौडा-दौडा बुधकारा पहुचा, उस सौभाग्यशाली गाव मे, जिसमे संत के चरण मेरे जिले मे पहले-पहल पड़े।

बुधकारा का वह पुण्य प्रभात वहुत दिनो तक याद रहेगा। सत

अपनी यात्रा सदा चार बजकर बीस मिनट पर प्रारम्भ कर देते हैं। हम लोग चार बजे से ही अपने जिले की सीमा पर उनकी प्रतीक्षा मे खड़े थे। तरह-तरह के नारे लग रहे थे, तरह-तरह के झडे उड रहे थे। तरह-तरह के लोग थे, नेता थे, कार्यकर्ता थे, मिनिस्टर थे, दारोगा थे, जमीदार थे, किसान थे, पूजीपति थे, मजदूर थे, काग्रेसी थे, सोशलिस्ट थे। कृष्णपक्ष की दशमी की हल्की चादनी चारो ओर बिछी थी। आकाश मे थोडे ही तारे थे, जो अब झुक-झुककर अपने विलीन होने की सूचना दे रहे थे। झीना कुहासा छाया हुआ था। रह-रहकर ठंडी हवा का झोका आ जाता था। हम बडी उत्सुकता से उस ओर देख रहे थे, जिस ओर से सत का आगमन होनेवाला था। दरभगा जिले मे जहां सत का अन्तिम पडाव था, वह यहा से कुछ दूर न था। यही से हम वहा की रोशनी देख रहे थे। अन्त मे वह रोशनी हिलती नजर आई, फिर हमारी ओर बढती दिखाई दी। लोगो मे आनन्द का उल्लास आया। हमने कोशिश की थी, पात बनी रही, किन्तु सत का आगमन हुआ कि ऐसा ज्वार उठा कि अब पात की बात कहा सोची जा सकती थी! बीच मे सत चल रहे थे, चारो ओर लोग दौड रहे थे। थोडी दूर यही स्थिति रही। हमने सम्हालने की कोशिश की, किन्तु सब निष्फल। सत रुके, सभी रुके। सत ने कहा, "तुम लोग हमारे पीछे चार-चार पात मे चलो।" हमने लोगो को चेतावनी दी—देखो, हम तुम्हे बढने नही देगे, चार-ही-चार आगे बढो। सत ने झिडक दिया—"नही-नही, हुक्म नही।" फिर जनता की ओर मुखातिब होकर कहा—"सुनो, हममे से कोई भी तुमपर हुकूमत करने वाला नही। तुम स्वय चार-चार पात बनाते चलो और चले चलो।"

जनता पर, लोगो पर. इतना विश्वास! "कोई तुमपर हुकूमत करने वाला नही!"—मैं मन-ही-मन सोच रहा था, सत यह क्या बोल गए? गाधीजी के बारे में लोगो का कहना था—वह अराजकवादी हैं। राज्य के मानी हैं शासन, हुकूमत। तुमपर कोई हुकूमत करने वाला नही—भला अराजकवाद का इससे बडा सूत्र कुछ और हो सकता है?

आगे-आगे गैस के दो हडे हैं, दो-तीन लालटेन भी हैं। सत बढ रहे

हैं। छोटा कद, दुर्बल शरीर, उसे चादर से लपेटे। उनके पैर जल्दी-जल्दी उठ रहे हैं। पीछे के लोगो को दौडना पड रहा है। नारे लग रहे हैं, सत रुकते हैं, कहते हैं, "नारे बन्द करो, बिल्कुल मौन चलो। ब्राह्म-मुहूर्त है न, यह तो मनन-चितन की बेला है।" सब लोग चुप हैं, अब सिर्फ पैरो की आवाज हो रही है। सत का काफला आगे बढ रहा है, बढता जा रहा है।

बीच-बीच मे गाव पडते हैं। कल संध्या को ही आते समय देख चुका हू, रास्ते मे सभी गाव सजाए गए हैं। प्रत्येक के द्वार पर तोरण-वन्दनवार! अभी रात ही है, तो भी स्त्री-पुरुष, बच्चे-बूढे सभी कतार बाध कर खडे हैं। रामधुन कर रहे हैं। नारे लगा रहे हैं। उन्हे पहले से समझा दिया गया है, पैर मत छूना, माला मत पहनाना। ललचाई आखो से सत के चरणो की ओर देखते हैं और बरबस उनके हाथ के फूल और मालाए उछल पडती हैं। नारियो की श्रद्धा-भक्ति देखते ही बनती है! बच्चो के उत्साह का क्या कहना! जब काफला बढता है, आपस मे बाते होने लगती हैं। सत के साथ दो लडकिया हैं, कुछएक औरते फुसफुसाती हैं, सत तो बाल-ब्रह्मचारी हैं, किन्तु, दूसरी औरत कहती है; इससे क्या? क्या साधु-सत के बाल-बच्चे नही होते! इस सादगी पर किसकी हँसी नही छूटे!

धीरे-धीरे अन्धकार दूर होता जा रहा है। हम कितने गावो को पीछे छोड आए! आधी मजिल तय हो चुकी है। उस अन्धकार मे, उस धूल-धक्कड मे कौन किसको पहचाने? किन्तु, अब एक-दूसरे के चेहरे देख सकते हैं, पहचान सकते हैं। एक भूमिहीन किसान आता है, मुझसे पूछ बैठता है—"मालिक, इत अपने नेता न हतन?" "हा, यह सब के नेता हैं।" किन्तु वह मेरे कथन की बारीकी पर कहा जाने वाला था! पूछ बैठा—"त जमीन कहिया तक मिलतई।" मुझे पिछले चुनाव का दृश्य याद आया। जब हम लोग कहते थे, "हम जमीन का फिर से बटवारा करेगे", तो गरीबो की आखे चमकने लगती थी। एक मुसहर को एक आदमी समझाने लगे—जमीन तुम्हे कहा से मिलेगी? क्या जमीन रबर है, जो लम्बी की जा सकती है? बीस बीघा, एक गाय।

यद सव सपना है, सपना ! वह मुसहर पढा-लिखा नही था, किन्तु मूर्ख नही था, जैसा कि हम लोग हर ग्रामीण को मान लेते हैं। उसने कहा था—"ओ मालिक, बीस बीघा हम कहा मगइछी ? बीसो धूर हमरा सभके हिस्सा मे पडतई की न ?" चुनाव मे हम हार गए। उन्हे लगा था, अब जमीन नही मिली। उनकी आश फिर जग गई है। बीसो धूर सिर्फ एक ही कट्ठा—उतनी जमीन भी उन्हे मिल जाय, जितनी मे उनका घर है, तो उनकी दासता की कडी कट जाय। हम गणितज्ञ उनकी मनोवृति को क्या जाने ? वही मनोवृत्ति है, जो उन्हे इस सत के पीछे-पीछे दौडा रही है। पाच-छ मील की दूरी मे ही सफेदपोशो की भीड प्राय छट चुकी है। बस, अब अधिकाश वे ही लोग सत के साथ रह गए हैं, जिन्हे जमीन चाहिए या जो उन्हे जमीन दिलाने को दृढप्रतिज्ञ हैं।

घडी कहती है—साढे छ बज चुके हैं। अब सत के जलपान का समय आ पहुचा हे। सत रुक जाते हैं। एक पात्र मे दही दिया जाता है। एक-एक चमचा मुह मे रखते हैं, गुलगुलाते हैं, कण्ठ के नीचे उतारते हैं। हम उनसे कह रहे है, "इस जिले मे अधिक जमीन नही मिलेगी, क्योकि जमीन कीमती है। यहा दस बीघे की जो कीमत होगी, हजारीबाग के हजारो बीघे की कीमत उतनी नही होगी।" सत मुस्कराते हैं—"जमीन का मोह तो समझ मे आता है, पर यह कीमत का क्या मोह ! कीमत माने रुपये न ? तो रुपये की भला कौनसी कीमत, जिसे न तो खाया जा सके, न पहना जा सके !" मुझे अराजकवादी साहित्य की याद आती है, प्रिस कोपाटकिन, बाकूनिन। सभी शासन के दुश्मन, सिक्को के दुश्मन, शासन और सिक्का—एक ही सिक्के के दो पहलू।

सूर्योदय होने के बाद सत चलते समय बाते भी करते जाते हैं। जिन लोगो को कुछ मसले पेश करने होते हैं, इसी समय पेश करते हैं। तरह-तरह के मसले पेश किए जा रहे हैं, दो-चार शब्दो मे ही उनका समाधान कर दिया जाता है। शब्दो मे सूत्रका-सा चमत्कार ! बडी-बडी बातो को भी यो थोडे शब्दो मे सुलझा देते हैं कि आश्चर्य होता है।

बीच मे एक खादी-केन्द्र है। वहा थोडी देर ठहरते हैं। कुछ कत्तिनें चर्खा चला रही हैं। उनमे से कुछके शरीर पर मिल के कपडे हैं। सत

कहते हैं—"तुम स्वय खादी नही पहनती हो तो दूसरे लोग तुम्हारी खादी क्यो पहनेगे ? अपने सौदे का आप अपमान करती हो ?" फिर लोगो से कहते हैं, "खादी ही पहनो। कहोगे, खादी महगी है। तो मैं कहता हू, जितने पैसे खादी मे अधिक लगते हैं, उसे दान समझो। कपडे-के-कपडे मिले, दान का पुण्य भी मिला।" बात सीधी, अर्थ-शास्त्र की उलझन नही। इसी भाषा को ग्रामीण समझ सकते हैं। सत भारतीय जनता की नब्ज पहचानते हैं। उसे उसीकी भाषा मे समझाते हैं, इसीलिए वह तुरन्त समझ भी जाती है, नही तो किसने आशा की थी, भूमि का इतने बडे पैमाने पर दान मिल सकेगा ?

यह धनौर गाव—धन का गाव है, बडे लोगो का गाव है, बडा गाव है। यहा बडे लोग आते ही रहते हैं, मिनिस्टर, नेता, साधू, सत, राजा, बाबू। किन्तु, आज धनौर मे जो दृश्य है, जो उत्साह है, वैसा कभी देखा गया था ? भोर से ही इस गाव मे धूम मची है। कौन ऐसा दरवाजा है, जिस पर कुछ अतिथि नही हो ? बहुत बडा है मेरा थाना। यहा से मेरा घर सीधी राह से भी दस मील होगा, किन्तु मेरे गाव के बाद के गाव से भी लोग आए हैं और, सबसे प्रसन्नता की बात यह है कि सभी विचार के लोग आए हैं, बेदौल का जमुना भी आया है और जनाढ के झाजी भी। एक के सिर पर लाल टोपी, एक के सिर पर गाधी टोपी। मैं गद्-गद् हो उठता हू—सत से कहा भी कि बाबा, आपका सबसे बडा कमाल यह है कि आपने बिछुडे लोगो को घसीट कर एक साथ खडा कर दिया है। आज मैं उस दरवाजे पर टिका हू, जो दरवाजा पिछले चुनाव मे मुझे हराने के लिए अड्डा बना हुआ था। मैं उन लोगो के साथ घूम रहा हू, हस रहा हू, बाते कर रहा हू, जो मुझे देखकर ही कतराकर निकल जाना चाहते थे, या मै ही जिन्हे देखकर आखे मोड लेता था।

अपनी उसी डायरी मे ये पक्तिया पा रहा हू—"आपको गणित से प्रेम नही। मैं भी सफलता की माप गणित के अको से नही करता। इसका उतना महत्व नही है कि मुझे कितने लाख एकड जमीन मिली। किन्तु इसके द्वारा लोगो को जो एक नया दृष्टिकोण मिल रहा है, उसका महत्व है। जब रामचरण नामक एक अन्धा रातोरात बैलगाडी पर

आकर अपनी कुल जमा पाच एकड जमीन दे जाता है, तो मै समझता हू, इस आदोलन ने लोगो के हृदय को जगाया है।"

यहा भी उन जगे हुए हृदयो की झलक पाता हू। जानता हूं, इनमे कुछ लोग अपने नेतृत्व के लिए भी दौड-धूप कर रहे हैं, कुछ अपने महत्व के लिए ढोग भी कर रहे है। किन्तु मैं उन लोगो मे नही, जो मानव-मन को सदा दूषित ही समझते हैं। कभी-कभी तो यहातक पाया है, ढोग से ही कोई काम प्रारम्भ किया गया, किन्तु उस काम की पवित्रता ने ढोग को जला दिया, वह व्यक्ति थोडे ही दिनो मे कुन्दन बन गया!

झुड-के-झुड लोग आ रहे हैं। चारो ओर नर-मुण्ड-ही-नर-मुण्ड दिखाई पड रहे हैं। १९३१ के बाद लोगो मे, साधारणजनो मे, ऐसा उत्साह नही दिखाई पडा था। बीच मे जो चीजे आई वे ऊपर की तरगे थी, उनमे जोर था, उफान था, किन्तु यह गहराई मे की हलचल है, जो मर्म को आलोडित करती है। एक विचित्र बात देख रहा हू, जो लोग १९२१ मे शामिल हुए थे, किन्तु कारणवश घरो मे बैठ गए थे, उनसे भी भेट हो रही है। उसकी आखे कहती हैं, बत्तीस साल बाद फिर कुछ होने जा रहा है क्या?

सध्या को तीन बजे सत के प्रवचन के लिए सभा हो रही है। दूर-दूर से लोग आ रहे हैं, किन्तु, सत समय के पाबन्द हैं, निश्चित समय पर ही कार्यारम्भ हो जायगा। प्रार्थना के कुछ पद गाए गए, श्लोक पढे गए, फिर रामधुन हुई। "रघुपति राघव राजा राम"—यह गाधीजी की रामधुन की टेक थी। संत ने उसमे थोडा परिवर्तन कर दिया है। मेरा मन कहता है, गांधीजी की टेक ही जारी रखी गई होती तो क्या अच्छा होता! किन्तु तुलसीदास की वह पक्ति याद आ जाती है, जिसमे लक्ष्मण सदा राम-सीता के पद-चिन्हो को बचाकर ही पैर रखते हैं।

सत की प्रवचन-मुद्रा भी गाधीजी से कुछ भिन्न है। वह पलथी मार कर बैठ जाते हैं, पहले एक-दो बार खास कर अपने कण्ठ को साफ कर लेते हैं, फिर बोलना प्रारम्भ कर देते हैं। जब किसी बात पर जोर देना होता है, पलथी पर दोनो हथेलियो को पटकते हैं। हथेलियों के पटकने का शब्द भी लाउडस्पीकर से सुनाई पड़ता है।

सत की भाषा भी बडी विशुद्ध है। हिन्दी का व्याकरण जटिल है, सत की मातृभाषा मराठी है, तो भी पूरे प्रवचन मे दो-तीन से अधिक व्याकरण की अशुद्धिया नही देखी गईं—वे भी बारीक भूले। ऐसी भूले तो हिन्दी के विद्वानो से भी हो जाती हैं।

फिर सत की विवेचन-प्रणाली शास्त्रीय होती है। हृदय और मस्तिष्क का अद्‌भुत सतुलन रहता है वहा।

पाकिस्तान और अमेरिका के सैनिक सुलहनामे को लेकर वडी खलवली मची है। उसीको आधार बनाकर सत ने प्रारम्भ किया। पाकिस्तान ने क्यो समझौता किया? क्योकि वह अपनेको कमजोर समझता है। हम क्या करे? क्या हम भी किसी वडे राष्ट्र से मदद ले? यह तो गुलामी को फिर से निमत्रण देना होगा। क्या हम सैनिक शक्ति वढाए? तो फिर निर्माण का काम वद कर देना होगा। जो आज भी धनहीन हैं, उन्हे और गरीब बनाना होगा। तो किया क्या जाय? देश को मजबूत बनाओ। देश की मजबूती सेना से नही प्रकट होती, जनता की एकता से, ताकत से प्रकट होती है। जिस देश मे धनी और गरीब मे इतना भेद हो, जिस देश मे आदमी-आदमी को अछूत समझे, जिस देश मे नारियो को कैद मे रखा जाय, वह देश मजवूत हो नही सकता। इन भेदभावो को दूर करो, इस विपमता को दूर करो, इस अन्याय को दूर करो।

सत के प्रवचन का यह सार था। उन्होने कहा—इस समझौते को मै भगवान् का वरदान समझता हू। हम धीरे-धीरे काम कर रहे थे। उन्होने हमे चेतावनी दी है—जल्दी करो।

फिर अपने भूदान-यज्ञ का महत्व विस्तार से वताया। पृथ्वी माता है। जो लोग अपनेको भूमिपति मानते हैं, वे नही समझते हैं कि वे कौन-सी गाली अपनेको दे रहे हैं। पृथ्वी के मालिक तो भगवान् हैं— "सवै भूमि गोपाल की।" भगवान की चीज पर भगवान के सभी वेटे-वेटियो का वरावर हक है। आप उसे उसका हक दीजिए, खुशी मे दीजिए, इसीमे आपका वडप्पन है, देश का कल्याण है।

जव मैं प्रवचन-सभा मे जा रहा था, कुछ लडके कम्युनिस्टो का एक

पर्चा वाट रहे थे। उन लोगो ने संत से कुछ प्रश्न पूछे थे। संत ने उन्हें जवाव दिया—"वार-वार एक ही ढग के प्रश्न ये लोग मुझसे पूछते हैं। शिव के गणो के वारे मे कहा जाता है, वे भोले-भाले होते हैं, किन्तु मैं समझता हूं, दो-चार वार समझा देने पर वे भी समझ जाते होगे। ये लोग तो 'शिव के गण' से भी गए-वीते प्रतीत होते हैं!"

सत लगभग डेढ घटे तक वोलते रहे। मैं श्रोताओ के मुह की ओर देख रहा था। लगता था, वे एक-एक शब्द पीने की चेष्टा कर रहे हैं। जाडे का दिन, सूरज डूवने जा रहा था, हवा सिसक कर गरीवो के कलेजे को कपाने की चेष्टा कर रही थी। तो भी वे डटे हुए थे। उनकी आखे मच पर बैठी उसी मूर्ति पर अडी थी, जिससे एक ज्योति निकल कर उनके मन-प्राण को जुडा रही थी। प्रवचन समाप्त हुआ, सभा विसर्जित हुई, तो भी वहुत-से लोग उस पडाव के आसपास चक्कर लगा रहे थे, जैसे वे किसी डोर से वध गए हो, जो चेष्टा करने पर भी टूट नही पाती थी।

सत विनोवा प्राय. सध्या को कार्यकर्त्ताओ की वैठक कराते हैं। उस समय किए गए काम का लेखा-जोखा लेते हैं, कार्यकर्त्ताओ की शकाओ का निवारण करते हैं और भविष्य के कार्य की रूपरेखा तैयार करते हैं। अभी मैं सत विनोवा पर लिखी गई एक पुस्तक को पढ रहा था। उनके एक वाल-साथी ने वताया है, विनोवा को गणित से कैसा अनुराग था। काम का लेखा-जोखा लेते समय मानो उनकी वह गणित-वुद्धि जाग्रत हो जाती है। उन्हे गलत आकडे वताकर धोखा नही दिया जा सकता। आगे के कार्यक्रम में भी गणित का उनका यह स्नेह जागरित रहता है। किन्तु दर-असल उनकी वुद्धि का, दार्शनिक ऊचाई का, किसी चीज की तह तक पैठ कर देखने वाली दृष्टि का, चमत्कार तो तव जानने को मिलता है, जव कार्यकर्त्ताओं की शकाओ के निवारण मे वह वोलने लगते हैं।

सध्या को जव वैठक हुई, उन्होने ताड लिया, यहा भूदान का कार्य दलगत दृष्टि से किया जा रहा है। कांग्रेस और सोशलिस्ट पार्टी दोनो के कार्यकर्त्ताओ से उन्होंने कहा कि दिल खोलकर वाते करो कि तुम लोग साथ मिलकर क्यों नही काम करते हो? मैं तो डाक्टर हूं, यदि मुझसे

बीमारी छिपाओगे, तो आराम कैसे होगा। दोनो ने अपनी-अपनी बाते रखी, दिल खोलकर रखी, साफ-साफ रखी। काग्रेसवालो ने कहा, "आप निश्चित रहे, हम लोग अपने थाने का कोटा पूरा कर देगे। सोशलिस्टो द्वारा आज ही कितनी जमीन मिली है, कुछ ही बीघे तो ! सोशलिस्टो ने कहा, "भूदान मे हमारे सभी साथियो की एक-सी आस्था भी नही है, फिर भी काम कर रहे हैं। हमारे साथ गरीब हैं, उनके पास जमीन ही कितनी है ! योही काग्रेसवालो ने कहा, "देखिए, ये लोग कितने झडे ले आए हैं, जैसे इन्हीकी सभा हो।" तो सोशलिस्टो ने कहा, "इन्होने सारे पोस्टरो पर थाना-काग्रेस-कमिटी का नाम छपवा दिया है, जैसे आप इन्हीके हो।" हा, बाते खुलकर हुईं, साफ-साफ हुई।

सत थोडी देर चुप रहे, फिर बोले, जैसे दिल खोल दिया हो। उन्होने बताया, यह देश का दुर्भाग्य है कि कोई शुभ कार्य भी आप लोग मिलकर नही कर सकते। जब कभी मिलने की कोई चेष्टा की जाती है, उसमे विघ्न डाला जाता है। उन्होने नेहरू-जयप्रकाश-वार्ता की चर्चा की और बताया किस तरह दोनो दलो के कुछ लोगो ने उसका विरोध किया। फिर दान की छुटाई-बढाई की चर्चा करते हुए बोले, "मेरे पास कोई क्षमता नही कि किसीको कोई सर्टिफिकेट दू। दान मे दाता का हृदय देखा जाता है, न कि दान की वस्तु का मूल्य। सुदामा के तदुल का क्या मूल्य था ? किन्तु कृष्ण ने उसे जिस प्रेम से खाया, क्या किसी राजा के व्यजनो को उस प्रेम से खाया होगा। ईसा की कहानी भी ऐसी ही है। एक विधवा ने दिनभर चर्खा कातकर जो दो पैसे पाए थे, जब उन्हे ईसा को दिया, तो ईसा ने कहा था, 'इससे बडा दान मुझे जीवन भर नही मिला।' अपने काम पर अभिमान मत आने दो, अभिमान का नाश होकर रहता है। इसीसे मै तो प्रभु से प्रार्थना करता हू, मुझसे इतना बडा काम मत करवाओ कि मुझमे अभिमान आ जाय, इससे तो छोटी सेवा ही भली।" अत मे सत का हृदय तिलमिला उठा। उन्होने कहा, "तुम लोग अपनी डायरी मे लिख लो, यदि तुममे यही मनोवृत्ति रही, यदि मिलजुल कर सेवा करने की वृत्ति नही बढी, तो इस देश मे गुलामी का इतिहास फिर दुहर कर रहेगा।"

जव यह वैठक समाप्त हुई, दोनो दलो के कार्यकर्त्ताओ मे एक अद्भुत हृदय-मथन चल रहा था। दोनो दलो के लोगो से मुझे वाते करने का मौका मिला। लगा, सत के कथन ने उनके हृदय को छू लिया है, वहा से कालिमा कुछ हटी है। काश, यही भावना स्थायी हो पाती।

सत इस भूदान के साथ ही एक निर्मल विचार के बीज वोते चल रहे हैं। वह विचार यह है कि देश के निर्माण के लिए लोग दलो को भूल जाय, सव मिलकर काम करे और अन्त मे वह दिन आए कि राजनीति मे भी दलो की खीचतान न रह जाय। जो जनसेवी हो,सच्चे हो, निस्स्वार्थ हो, वे ही लोग चुने जाय, उन्हीकी सरकार वने। जनतत्र मे दलवदी की जो भावना जन्मजात है, वह दूर हो जाय। तभी वह सच्चा जनतत्र होगा। हम लोग इस तरह की वात सुनने के आदी नही रहे हैं। हमे वताया गया है कि जनतत्र के साथ दलवदी आवश्यक है, इतिहास भी यही वताता हे। अत यह वात हमारे हृदयो मे उतरती नही है, मस्तिष्क उसे वाहर फेक देता है। किन्तु आज जनतत्र जहा जा रहा है, लोगो को एक दिन सोचने को मजवूर होना पड़ेगा। नए विचार, नई परिस्थिति की ही पैदावार होते हैं। विचारक तो उसे भाषामात्र देता है।

इधर पैदल चलना एकदम छूट गया था। दिन-भर थकावट के मारे चूर रहा, शाम को हल्का वुखार-सा हो आया। सोचता था, कल पैदल नही चल सकूगा। किन्तु सध्या को, इस वैठक के वाद, जव सत के निकट गया, एक भाई ने पूछ दिया—'कल भी पैदल-यात्रा होगी है न, तव मुझसे "नही" नही कहा गया।

दूसरे दिन फिर चार वजे भोर मे उठा और सत के काफिले के पीछे आ गया। इच्छा-शक्ति कितनी प्रवल होती है। शरीर-शक्ति पर वह किस तरह हावी हो जाती है, नही तो कल शाम को वुखार का अनुभव कर रहा था, आज उस भोर मे दौडा चल रहा हू।

आज अंगरेजी साल की पहली तारीख थी। जव सूर्योदय हो रहा था, सत कह उठे। नए साल का यह नया सूरज। कितना सुन्दर समा! हम खेतो के बीच होकर गुजर रहे थे। खेतो मे सरसो फूल रही थी, गेहू

मटर, खेसारी की हरियाली कैसी मनोहारिणी थी ! दूर पर ईख का खेत था। उस खेत से ऊपर, पूरबी क्षितिज पर सूरज का लाल गोला। वह धीरे-धीरे ऊपर उठ रहा था। हल्के सफेद कुहासे को छेदकर उसकी सुनहरी किरणे बिखर रही थी। ओस के कण-कण चमचम कर रहे थे। सत पूरब मुख खडे हो गए और सूर्य देवता को निर्निमेष दृष्टि से देखते हुए वैदिक मत्रो से स्तुति करने लगे। सत का मुखमडल उद्दीप्त हो रहा था। सभी लोग, सत से कुछ अलग, कतार बाधकर खडे थे। झडा लहरा रहे थे, भोर की हवा उन्हे दुलरा रही थी, हलरा रही थी। बिलकुल शाति ! सबका ध्यान या तो उस सूरज के लाल गोले पर या सत के चेहरे पर। बेटी कुसुम ने मेरे कानो मे फुसफुसाकर कहा, "इसपर कोई कविता लिख डालिए।" मुझे वेद का वह वाक्य याद आ गया—"पश्य देवस्य काव्य न ममार ग जीर्णयसि।" देवता के काव्य को देखो, जो न मरता है, न पुराना होता है। हा, यह सूरज—कितने दिनो से उगता आ रहा है, किन्तु आज भी कितना नवीन, कितना जीवत दिखाई पड रहा है। यह देवता का काव्य है न ? इस काव्य के समुख ससार का सारा काव्य फीका है।

सत की स्तुति समाप्त होती है, वह दही का जलपान करते हैं, चल पडते हैं। मैं भी चल रहा हू, किन्तु बार-बार सोचता हू, नए वर्ष का यह सूरज क्या सचमुच एक नए युग के आगमन की सूचना दे रहा है—उस युग की जब अधकार नही होगा, जब कहासा फटेगा, जब चारो ओर हरियाली होगी, रगीनी होगी, सारी दुनिया इन ओसकणो की तरह जगमग, झलमल कर उठेगी।

गाव-गाव मे स्वागत हो रहा है। बीच के एक गाव मे एक पुस्तकालय का उद्घाटन सत द्वारा किया जा रहा है। नामो की एक सूची पढी जाती है। उस सूची को लेकर कुछ हलचल मचती है। अरे, मानव-मन इतना चचल है ! साझ की बात भोर मे ही भुला दी गई। क्या निराश हुआ जाय ? क्या हताश हुआ जाय ? नही, पुराना मैल धीरे-धीरे धुलेगा ? धुल कर रहेगा, नही तो इतनी जल्द यह हलचल शात क्यो हो गई ? छोटी बातो को भी एक क्षण मे विशाल रूप धरते क्या

नही देख चुका हुं। यहा तो एक हल्की-सी तरग उठी और फिर आप ही शात हो गई। क्या यह शुभ दिन की सूचना नही है ?

हम दूसरे पडाव पर आ पहुचे। पडाव पर पहुचकर सत का एक सक्षिप्त प्रवचन होता है। आज भी हुआ। सत ने एक बडी मार्मिक बात कही। तरह-तरह के झडे थे। सत ने कहा—"इन झंडो के विविध रगो को देखकर उदास मत होओ। झडे तो अलग-अलग हैं, किन्तु उन्हे एक हवा लहरा रही है। अनेकता मे भी एकता का बोध होता है, यदि उसमे समरसता हो। अनेक स्वरो से ही तो सगीत सधता है।" मुझे स्वामी रामतीर्थ का वह शेर याद हो आया—

अलग हम सबसे रहते हैं मिसाले तार तंबूरा,
जरा छेड़े से मिलते हैं मिला ले जिसका जी चाहे !

हा, कमी है चतुर उगलियो की, जो अलग-अलग बघे तारो को छेडकर उनसे सगीत की सृष्टि कर दे। हममे अधिकाश लोगो की उगलिया या तो एकतारे पर सधी हैं या उनमे वह कठोरता है कि इन तारो को तोड ही देती हैं। इसलिए आज ससार मे झकार के बदले हाहाकार ही छाया हुआ है।

थका हुआ हू, लेटने की इच्छा हो रही है। साथी कहते हैं—हम लोगो के लिए कमरे नही हैं। मै कहता हू—अरे, सत ने कहा है न 'सबै भूमि गोपाल की'। छोडो कमरे को, चलो मैदान के उस छोर पर। जाडा है, धूप मे भी मजा आयगा। एक साथी ने कबल डाल दिया, मैं लेट गया हू। कानो मे समवेत स्वर आ रहा है...

सुरम्य शान्ति के लिए जमीन दो, जमीन दो।
नवीन क्रान्ति के लिए जमीन दो, जमीन दो।

आखें झप रही हैं। जब खुलती हैं, पाता हू, झडे गड गए हैं, हडे चढ चुके हैं। किन्तु यह क्या ? बगल मे पढरीजी बैठे हैं, वह कहते हैं—आप लोग यहा अलग क्यो हैं ? मैं अपनी वही टेक दुहरा जाता हू .. 'सबै भूमि गोपाल की।' वह कहते हैं—नही, इससे अलगाव का बोध होता है। मेरे साथी उन्हे बता रहे हैं—हमे कमरे नही दिए गए। मैं कहता हू—तो क्या हुआ ? ये झडे और हडे वही चलें, जहा पटरीज

बता रहे हैं। झडे अलग-अलग हैं, किन्तु हवा तो एक है। यदि इन्हे एक जमीन भी मिल जाय तो क्या कहने! वही होता है। अब सभी झडे एक ही आगन मे गढे हैं, एक ही हवा मे लहरा रहे हैं।

काश, हमारा दिल भी इसी तरह एक हो जाता!

नही देख चुका हु। यहा तो एक हल्की-सी तरग उठी और फिर आप ही शात हो गई। क्या यह शुभ दिन की सूचना नही है ?

हम दूसरे पडाव पर आ पहुचे। पडाव पर पहुचकर सत का एक सक्षिप्त प्रवचन होता है। आज भी हुआ। सत ने एक बडी मार्मिक बात कही। तरह-तरह के झडे थे। सत ने कहा—"इन झडो के विविध रगो को देखकर उदास मत होओ। झडे तो अलग-अलग हैं, किन्तु उन्हे एक हवा लहरा रही है। अनेकता मे भी एकता का बोध होता है, यदि उसमे समरसता हो। अनेक स्वरो से ही तो सगीत सधता है।" मुझे स्वामी रामतीर्थ का वह शेर याद हो आया—

अलग हम सबसे रहते हैं मिसाले तार तंबूरा,
जरा छेड़े से मिलते हैं मिला ले जिसका जी चाहे !

हा, कमी है चतुर उगलियो की, जो अलग-अलग बधे तारो को छेडकर उनसे सगीत की सृष्टि कर दे। हममे अधिकाश लोगो की उगलिया या तो एकतारे पर सधी हैं या उनमे वह कठोरता है कि इन तारो को तोड ही देती हैं। इसलिए आज ससार मे झकार के बदले हाहाकार ही छाया हुआ है।

थका हुआ हू, लेटने की इच्छा हो रही है। साथी कहते हैं—हम लोगो के लिए कमरे नही हैं। मैं कहता हू—अरे, सत ने कहा है न 'सवै भूमि गोपाल की'। छोडो कमरे को, चलो मैंदान के उस छोर पर। जाडा है, धूप मे भी मजा आयगा। एक साथी ने कबल डाल दिया, मैं लेट गया हू। कानो मे समवेत स्वर आ रहा है ..

सुरम्य शान्ति के लिए जमीन दो, जमीन दो।
नवीन क्रान्ति के लिए जमीन दो, जमीन दो।

आखें झप रही हैं। जब खुलती हैं, पाता हू, झडे गड गए हैं, हडे चढ चुके हैं। किन्तु यह क्या ? बगल में पढरीजी बैठे हैं, वह कहते हैं—आप लोग यहा अलग क्यो हैं ? मैं अपनी वही टेक दुहरा जाता हूं .. 'सवै भूमि गोपाल की।' वह कहते हैं—नही, इससे अलगाव का बोध होता है। मेरे साथी उन्हे बता रहे हैं—हमें कमरे नही दिए गए। मैं कहता हू—तो क्या हुआ ? ये झडे और हडे वही चलें, जहां पढरीज

पीठ पर सवारी कर सकते थे। अपनी कुरूपता पर एक जगह उन्होने स्वय लिखा है—"मैं प्राय ही उदास हो जाता हू । मेरी समझ मे आनन्द उसकी तकदीर में नही लिखा है, जिसकी नाक ऐसी चपटी हो, होठ इतने मोटे हो और आखे इतनी छोटी और भूरी हो।" वह घमडी थे—किसीके नमस्कार का भी उत्तर नही देते थे, अपनी पुस्तको की आलोचना को वर्दाश्त नही कर पाते थे, वडे चिडचिडे थे, वात-वात पर लडने को तैयार रहते थे।

वडे घर के बेटे थे। नौजवानी मे रगरेलिया की। फौज मे काम किया—एक तो गिलोय, दूसरे, चढी नीम पर। फिर शादी की। वीवी का वदन सुडौल था, आखे सुन्दर, वाल मुलायम, वोली मधुर। किन्तु वह भावुक थी, अत. कभी-कभी ठन जाती। उसके अक्षर सुन्दर थे—टॉल्स्टाय की रचनाओ की प्रतिलिपि वही तैयार करती थी। 'वार ऐंड पीस' की सात बार उसने प्रतिलिपि तैयार की थी। टॉल्स्टाय प्रतिदिन आठ-दस घण्टे जरूर लिखते थे। हा, उनके अक्षर वहुत खराव थे।

उनका प्रारम्भिक पारिवारिक जीवन वडा आनदपूर्ण रहा।

: ६ :

कथा के ये जादूगर !

सामरसेट माम से एक बार एक प्रकाशक ने पूछा, "आपकी सम्मति मे ससार के दस सर्वश्रेष्ठ उपन्यास और उपन्यासकार कौन हैं ?" माम ने ये दस नाम दिए—

१ वार ऐंड पीस	—लियो टॉल्स्टाय
२. ओल्डमैन गारियो	—ओनेरे वालजाक
३. टाम जोन्स	—हेनरी फीलिडग
४. प्राइड ऐंड प्रज्युडिस	—जेन आस्टिन
५. रेड ऐंड ब्लैक	—स्तेवल
६. वूदरिंग हाइट्स	—एमिली ब्रौंटे
७. मदाम वावरी	—गुस्ताफ फ्लावर्त
८ डेविड कॉपरफील्ड	—चार्ल्स डिकेंस
६. ब्रदर्स करमाज़ोफ	—फियोडोर दास्ताएव्स्की
१०. मोवी डिक	—हरमैन मेलविले

माम का कहना है कि उसकी समझ मे ससार का सबसे बडा उपन्यासकार वालजाक है, किन्तु सबसे बडा उपन्यास है टॉल्स्टाय का 'वार ऐंड पीस'। इसमे पाच सौ पात्र हैं और मुख्य पात्र जीवन से लिये गए हैं। अपने पितामह, पिता, माता और कितने ही परिचितो को टॉल्स्टाय ने उस उपन्यास का पात्र बनाया है। उन्होने अपने व्यक्तित्व को दो हिस्सो मे बाटकर इसके दो प्रधान नायक बनाया। नटाशा उनकी मुख्य नायिका है और माम का कहना है, इससे अधिक मनोरजक नारी उपन्यास-ससार मे कभी गढी नही गई।

टॉल्स्टाय के जीवन पर बडी कडी निगाह डाली गई है—वह शराबी थे, जुआडी थे, अत्यन्त कामुक थे। देखने मे कुरूप, किन्तु बडे साहसी, बलवान—दिनभर पैदल चल सकते थे, बारह घटे घोडे की

पीठ पर सवारी कर सकते थे। अपनी कुरूपता पर एक जगह उन्होने स्वय लिखा है—"मै प्राय ही उदास हो जाता हू। मेरी समझ मे आनन्द उसकी तकदीर मे नही लिखा है, जिसकी नाक ऐसी चपटी हो, होठ इतने मोटे हो और आखे इतनी छोटी और भूरी हो।" वह घमडी थे—किसीके नमस्कार का भी उत्तर नही देते थे, अपनी पुस्तको की आलोचना को वर्दाश्त नही कर पाते थे, वडे चिडचिडे थे, वात-वात पर लडने को तैयार रहते थे।

वडे घर के बेटे थे। नौजवानी मे रगरेलिया की। फौज मे काम किया—एक तो गिलोय, दूसरे, चढी नीम पर। फिर शादी की। वीवी का वदन सुडौल था, आखे सुन्दर, वाल मुलायम, वोली मधुर। किन्तु वह भावुक थी, अत. कभी-कभी ठन जाती। उसके अक्षर सुन्दर थे—टॉल्स्टाय की रचनाओ की प्रतिलिपि वही तैयार करती थी। 'वार ऐंड पीस' की सात बार उसने प्रतिलिपि तैयार की थी। टॉल्स्टाय प्रतिदिन आठ-दस घण्टे जरूर लिखते थे। हा, उनके अक्षर वहुत खराव थे।

उनका प्रारम्भिक पारिवारिक जीवन बडा आनदपूर्ण रहा। पत्नी वच्चे-पर-वच्चे दिए जाती, उनकी देखभाल करती, अपने पति को लिखने-पढने मे सहायता करती। इधर टॉल्स्टाय लिखते-पढते, घुड-सवारी करते, शिकार खेलते और अपनी जमीदारी का काम-धाम सभालते हुए पचासवे वर्ष के आस-पास पहुचे।

माम उनकी उम्र के इस हिस्से के वारे मे लिखता है—

"वह पचासवे वर्ष के निकट पहुच रहा था। यह अवस्था आदमी के जीवन मे वडी खतरनाक होती है। जवानी वीत गई होती है। पीछे देखने पर यह लेखा-जोखा सामने आता है कि हमने क्या किया तथा सामने देखने पर वुढापे का स्मरण-मात्र ही कपा डालता है।"

टॉल्स्टाय के जीवन मे इसके बाद ही परिवर्तन होता है। वह एक नए जीवन, नए धर्म के मसीहा वन जाते है। संसार के कोने-कोने मे उनकी कीर्ति फैल जाती है। 'पैसिव रेजिस्टेंस' के नाम से वुराई से लडने का वे एक नया तरीका निकालते हैं। इसका ही भारतीय रूप सत्याग्रह है। गाधीजी ने स्वय लिखा है कि टॉल्स्टाय की इस अनोखी

जीवन-पद्धति ने उन्हे सबसे अधिक प्रभावित किया।

इसके बाद ही उनमे और उनके परिवार मे एक अजीब द्वद्व मचता है। टॉल्स्टाय धन को पाप मानकर उसका त्याग करने पर तुले हैं, किन्तु उनकी पत्नी बेचारी क्या करे, घर कैसे चलाए! चेरत्कोव नामक उनके एक प्रशसक ने इस आग मे घी का काम किया—उसके चलते घरेलू बाते बिगडती ही गई। अन्त मे, उन्हे घर छोडकर चल देना पडा। उस समय उसकी उम्र बयासी की थी। रात की यात्रा, सर्दी लग गई। घर से स्टेशन, वहा से फिर रेल-यात्रा, फलस्वरूप बुखार से पीडित होकर रास्ते मे ही एक अपरिचित स्टेशन पर उन्हे उतरना पडा और वही उनकी मृत्यु हो गई।

टॉल्स्टाय रूसी थे और बालजाक फ्रासीसी। कहानी-कला मे आज भी ये दोनो देश ससार मे शीर्षस्थान रखते हैं।

बालजाक मे विलक्षण प्रतिभा थी। उपजाऊपन लेखक का विशिष्ट गुण है और उसे यह गुण पूरा-पूरा मिला था। उसकी दृष्टि बडी पैनी थी, उसके आविष्कार महान् थे और जितने प्रकार के पात्र उसने पैदा किये, वे तो अपूर्व हैं ही—न भूतो, न भविष्यति। वह मानो प्रकृति की एक अदम्य शक्ति था—एक ऐसी नदी, जो घहराती, कगारो को ढहाती और हर चीज को बहाती चलती है—एक ऐसी आधी, जो गावो को झकझोरती और शहरो को चर्रमर्र करती बढती जाती है। स्वभाव मे बचपना, हृदय से उदार और दयालु। वकील बाप ने चाहा, बेटा वकील बने, पर वह लेखक बनना चाहता था। पहली पुस्तक पढकर लोगो ने कहा—"तुम लिख नही सकते, यह पेशा छोडो।" किन्तु वह लिखता गया, लिखता गया। चार वर्षों मे पचास पुस्तकें लिख डाली—ऐतिहासिक उपन्यास। इसी समय एक स्त्री से वह प्रेम करने लगा। वह स्त्री उससे पन्द्रह वर्ष बडी थी—एक ही साथ पत्नी-प्रेम और मातृ-प्रेम! उसी स्त्री ने रुपये दिए और प्रकाशन का काम शुरू हुआ। किन्तु बालजाक-जैसे उदार आदमी (उदार क्यो, हद दर्जे का फिजूलखर्च) से व्यापार क्या चले? तीन साल मे ही रोजगार मे दिवाला पिट गया।

अब वह तीस साल का था—दुनिया का काफी अनुभव पाया हुआ।

सामान भी नीलाम हुआ। किसीसे—औरतो से भी—कर्ज मागने मे उसे सकोच न होता।

प्रेम भी उसने खुलकर किया और कभी-कभी तो 'दूर की कौडी हाकने' मे भी कमी नही की। तभी एक रूसी सभ्रात महिला उससे प्रेम करने लगी। यह विचित्र बात है कि उसका प्रेम प्राय' पत्र-व्यवहार से ही शुरू होता। इस रूसी महिला से शादी करने के बाद ही उसकी मृत्यु हो गई। यो कहिए कि मृत्यु-शय्या पर ही शादी हुई। सक्षेप मे, बालजाक को जहा साहित्य मे सफलता मिली, जीवन मे वह असफलता-ही-असफलता का शिकार हुआ।

'ओल्डमैन गारियो' शुरू से आखिर तक मनोरजक है, फिजूल की बहक से रहित। इसका मुख्य स्थान एक मामूली बोर्डिंग हाउस है। बूढे पिता का प्रेम और अकृतज्ञ बेटी की उपेक्षा का अजीब चित्रण इस उपन्यास मे किया गया है। साथ ही, उस समय की पेरिस के भ्रष्टाचार का भी दिग्दर्शन है।

माम ने शेष आठ उपन्यासकारो के जीवन और उनकी सर्वश्रेष्ठ कृतियो पर भी बडा ही मनोरजक प्रकाश डाला है। इन उपन्यासकारो मे क्या विशेषताए थी, जो उन्हे ऐसे महान कलाकार बना सकी, इस प्रश्न का उत्तर माम यो देता है—

"इन सबमे सबसे बडी विशेषता थी, इनकी क्रियात्मक प्रवृत्ति। ये इतने बडे लेखक इसलिए बने कि इनके भीतर ऐसी प्रेरणा थी, जो इन्हे लिखने को मजबूर करती थी। क्रियात्मक प्रवृत्ति के साथ ही इनमे व्यक्तित्व का विकास हुआ था, जिसे लोग 'सनकीपन' या 'झक्कीपन' कहते हैं—वही, जो आदमी को दूसरो की अपेक्षा अलग ढंग से देखने को प्रेरित करता है। यह विशेष तत्व बुरा लगे या भला, किन्तु इन्हीके चलते वह ऐसी चीजे आपके सामने रख पाता है, जिसे आप अद्भुत कहते और जिसमे चकित और विस्मित होते रहे हैं। इन व्यक्तियो में लिखने के लिए अजीब प्रेरणा थी। ये लिखते थे और लिखते ही जाते थे। लिखना आसान नही है और अच्छा लिखना तो और भी मुश्किल है। यो कहा जा सकता है कि कोई आदमी वैसा नही लिख पाता जैसा

कि वह लिखना चाहता है । टॉल्स्टाय और बालजाक लिखते थे, काटते थे, फिर लिखते थे, फिर काटते थे । लिखने की प्रवृत्ति इन लोगो मे वैसी ही थी, जैसी भूख या प्यास की प्रवृत्ति ।

"इनमे से कोई भी बहुत पढा-लिखा नही था । और, लिखने की कला छोडकर किसी दूसरी कला से इनका वैसा अनुराग भी नही था । ये बहुत मेधावी भी नही थे, पर इसका मतलब यह नही कि ये मूर्ख थे । इनमे विचार के लिए वैसी रुचि नही थी, जैसी उदाहरण के लिए । विचार की कमी की पूर्ति इनमे भावना द्वारा हुई थी । इनकी भावना बडी प्रखर थी—इनमे कल्पना थी, गहरी सूझ-बूझ थी, परख थी और सबसे बढकर इनमे यह योग्यता थी कि जिसे देखा, अनुभव किया या जिसकी कल्पना की, उसे मूर्त्तरूप दे सके । एक दृष्टि से देखिए, तो ये सब-के-सब स्वाभाविक मानव से भिन्न दिखाई पडते थे ।

"यह सोचना बेवकूफी से भरा है कि कलाकार को सासारिक सुख के प्रति विरक्ति होती है । ऐसी बात नही है । उसके स्वभाव मे तरलता होती है, जो अपने लिए जगह चाहती है । आराम-चैन उसे बहुत पसद है । मौज से रहना उसे बहुत भाता है । इन लेखको को देखिए—किसी को कपडा पसद, किसीको शिकार, किसीको घर, किसीको सवारी । इनमे से किसीमे सन्यास-वृत्ति नही थी । सब मजे मे रहना चाहते थे । उन्हे पैसा चाहिए था—जमा करने के लिए नही, उडाने के लिए, दोनो हाथो से उडाने के लिए । वे किसी भी जरिए से रुपया पाना चाहते थे और किसीके लिए अपनी झोली खाली कर देते थे । बातचीत मे पटु तथा सगति मे रसिक थे और जो उनके निकट गया, उसे बिना प्रभावित किए नही छोडा ।"

: १० :

दीवाली फिर आगई सजनी !

१९४२ । दीवाली । सध्या ७॥ बजे ।

विहार का हजारीवाग सेंट्रल जेल ।

जेल के भीतर—

लगभग दो दर्जन राजवदी दीवाली मना रहे हैं ।

वीच मे एक खूवसूरत किशोर हाथ मे थाल लिये । थाल मे वयालीस दीपक जगमग कर रहे हैं । वह वडी शान से थाल को नचाता हुआ गाता है—

"दीवाली फिर आ गई, सजनी ।"

वीस-पच्चीस नौजवान उसे घेरे हुए । कोई थाली पीट रहा, कोई वाल्टी वजा रहा, कोई लोटा टनटना रहा और वीच के उस किशोर के स्वर का अनुगमन करते हुए सभी गा रहे—

"दीवाली फिर आ गई, सजनी ।"

ढाई सौ राजवदी हैं यहा । प्रदेश के चीफ मिनिस्टर हैं, मिनिस्टर हैं, स्पीकर हैं, चेयरमैन हैं, विधायक हैं, विधाता हैं; नेता हैं, कार्यकर्ता हैं । काग्रेस हैं, सोशलिस्ट हैं, फारवर्ड व्लोकिस्ट हैं, कम्युनिस्ट हैं । सभी इस अनुपम दीवाली-उत्सव को देख रहे हैं, हँस रहे हैं, तालियां पीट रहे हैं । वहुत-से लोग धीरे-धीरे इस उत्सव मे शामिल होते जा रहे हैं ।

रग जमता जा रहा है, भुड वढता जा रहा है ।

जेलर देख रहे हैं, नायव जेलर देख रहे हैं । जमादार साहव तो इतने भावावेश मे आ जाते हैं कि तालियो का गुच्छा भनभनाते हुए वह भी गाने लगते हैं—

"दीवाली फिर आ गई, सजनी ।"

और उधर, जेल के उस निभृत कोने की दीवार के नीचे, जहा जामुन के लम्बे पेड की छाया दीवार पर गिरती है, दो आदमी एक

टेबुल लाकर रख देते हैं।

उनमे से एक टेबुल पर चढकर दीवार को पकडता है, दूसरा उछल कर उसके कधे पर चढ जाता है।

तबतक चार आदमी और वहा जाते हैं। उनमे से एक पहले आदमी की कमर पर लात रखता हुआ दूसरे की कमर को पकडकर उसके कधे पर चढ जाता है।

वह कधे पर खडा होता है। अब दीवार का ऊपरी छोर उसकी पहुच मे है। इधर-उधर देखता है, फिर कधे से दीवार पर जाकर अपने-को दीवार के उस पार खिसका देता है।

सर-सर-सर-सर ! छाती मे कुछ रगड, ठुड्डी मे कुछ खरोच। अब वह दीवार के उस पार जमीन पर खडा है।

इधर-उधर चौकन्ना देखता है, कोई नही। वह लेट जाता है।

उसकी कमर मे कपडे को लिपटाकर वधा हुआ एक रस्सा है। इस कपडे के रस्से का एक छोर दीवार के उस पार जेल के अन्दर है।

यह रस्सा अब कमद का काम कर रहा है।

इस कमद के सहारे दूसरा आदमी भी दीवार के उस पार गया।

तीसरा गया।

चौथा गया।

पाचवा गया।

छठा गया।

छ कैदी जेल की दीवार पार कर वाहर निकल चुके हैं, सिर्फ छ मिनट मे।

हा, सिर्फ छ मिनट मे।

आज दो महीने से एक सैल मे इसी प्रकार टेवुल लगाकर, उस पर आदमी-पर-आदमी खडा कर, फिर कमद के सहारे चढ-उतरकर, वे लोग अभ्यास कर रहे थे।

पाच से सात मिनट के अन्दर काम पूरा कर लिया जा सकता है।

इन्होने छ मिनट मे समाप्त कर दिया।

जिस जेल को अग्रेजी सरकार ने अभेद्य, अनुल्लघनीय समझा था,

उसे छ राजवदियो ने छ मिनट मे पार कर दिया।

उधर जेल के भीतर जहा गैस की रोशनी मे जर्रा-जर्रा चमचम कर रहा है—जोरो का शोर हो रहा है—

"दीवाली फिर आ गई, सजनी।"

इधर जेल के बाहर, जहा इस अमावस्या का सूचीभेद्य अधकार है, छ राजवदी भागे जा रहे हैं—काले घुप्प अन्धकार मे, भूत की तरह।

(२)

दूसरे दिन ढाई बजे दिन मे पटना सेक्रेटेरियट मे आल-क्लियर टेलिफोन घनघना उठता है—

"हलो, हलो।"

"जी मै हू सुपरिन्टेन्डेन्ट हजारीबाग जेल।"

"क्या बात है ?"

"अधेर हो गया, छ राजवन्दी जेल से भाग गए !"

"कब भाग गए ?"

"जी अभी-अभी पता चला है।"

"दिन मे भाग गए ?"

"जी, पता नही चल रहा है, कब भागे ? हम पता लगा रहे हैं। शायद भोर मे भागे हो।"

"कैसे भागे ?"

"उसका भी पता हम लगा रहे हैं।"

"वे लोग कौन थे ?"

"उनमे एक थे जयप्रकाश नारायण।"

"जयप्रकाश नारायण ? हलो, आप कह रहे हैं जयप्रकाश नारायण सोशलिस्ट नेता ?"

"जी, वही।"

और उनके बाद बिहार के सारे सूबे मे गलबली थी। हर जेल मे सूचना दी गई, होशियार रहो, कोई व्यापक षड्यत्र है। हर जिले मे खबर दी गई, होशियार रहो, न-जाने क्या हो ?

राची मे फौजी पड़ाव है। जापानी आक्रमण से बचने के लिए

हिन्दुस्तान की सेकेन्ड लाइन ग्राव डिफेस। हजारीबाग से सिर्फ चालीस मील पर है वह पडाव। वहा खबर की जाती है, इन कैदियो को पकडने मे फौज की मदद दो।

ऊपर हवाई जहाज मडरा रहे हैं—जगल, पहाड, मैदान—सब जगह गृद्धदृष्टि से देखा जा रहा है—भगोडे कैदी कहा हैं ?

हजारीबाग से बाहरी दुनिया मे जानेवाली सभी सडको और राहो पर पहरे पड रहे हैं।

विहार गजट का विशेष सस्करण निकलता है—

हजारीबाग सेन्ट्रल जेल से छ कैदी भाग गए हैं। जो उन्हे पकडा देगा, उसे इक्कीस हजार रुपये इनाम मे मिलेगे। हर कैदी पर इनाम की रकम यो है—

जयप्रकाश नारायण	..	५०००)
योगेन्द्र शुक्ल		५०००)
रामनन्दन मिश्र	.	५०००)
सूरज नारायण सिह		२०००)
गुलाली सोनार	...	२०००)
शालिग्राम सिह		२०००)

फौज, पुलिस, जेल—तीनो विभागो के लोग इन कैदियो को पकडने के लिए एडी-चोटी का पसीना एक कर रहे हैं। कुछ ऐसे सज्जन भी, जो कुछ रुपयो पर देश को बेच सकते हैं, इनका साथ दे रहे हैं।

सडको पर, राहो पर, पगडडियो पर चलनेवाले एक-एक आदमी को गौर से देखा जाता है।

किन्तु, उनके सारे प्रयत्न व्यर्थ जा रहे हैं, व्यर्थ जा रहे हैं।

(३)

जब जेल की दीवार पार करके वे छ वदी चले तो जल्दी मे जान न सके कि किधर जा रहे हैं।

यह पहाडी जिला—चारो ओर जगल-जगल—कही-कही वस्तिया।

तय था, जेल से निकलकर वे एक निश्चित पथ से वढे गे और यहा

से सात मील दूर के एक गाव में जाकर दम लेगे। वहा से सवारी का प्रवन्ध करके वे वाहर जायगे—कहा ?

निश्चय किया गया था कलकत्ता पहुचने का।

किन्तु यहा तो रास्ता ही भूल गया।

जगल-जगल वे वढ रहे हैं और जब पीछे मुडकर देखते हैं, एक पहाडी पर बने उस जेल के सेन्ट्रल टावर की रोशनी देखते हैं।

यह रोशनी उन्हे कितना भयभीत करती है !

कि अचानक गुर्राहट।

अरे, क्या यह शेर है ?

हा, शेर ही तो।

विहार के शेर श्री योगेन्द्र शुक्ल आगे वढते हैं, उसी भयानकता से ललकारते हैं। लगता है, शेर ने शेर की कद्र की। उसने रास्ता छोड़ दिया। वे आगे वढे।

उस दिन जब दुनिया दीवाली मना रही थी और जेल मे वारह वजे तक 'दीवाली फिर आ गई, सजनी' की धूम मची थी, ये छ राज-वदी घनघोर जगल मे, कालेघुप्प अवेरे मे, आगे वढ रहे थे।

इनके पैर नगे थे, कपडे भीग गए थे।

जूतो और कपडो की गठरी जेल मे ही रह गई थी। कमद के सहारे उसे फेकने की कोशिश की गई, किन्तु वेकार। फिर ज्योही वाहर निकले, सव-के-सव एक नाले मे गिर पडे। पैर मे काटे चुभ रहे थे, सर्दी के मारे दात किटकिट कर रहे थे। तो भी वे वढते जा रहे थे।

रात-भर चलते रहे।

कहा जा रहे हैं, कुछ पता नही। ध्रुव-नक्षत्र को देखकर अपने जानते उत्तर दिशा की ओर वढ रहे हैं।

अन्तत जब आकाश मे लाली फैली, उषाकालीन मन्द हवा चलने लगी, तो इनकी आखो पर नीद मडरा उठी। एक पेड के नीचे सो गए।

जब चारो ओर सूरज की रोशनी जगमग कर रही थी, तब उनकी

नीद टूटी । अरे, पैरो की क्या हालत है ? वे रक्त से सने हैं । चेहरे और बदन भी देखने लायक । कितने खरोच, कितने जख्म !

तो भी चलना है । चलना है । चलना ही है ।

पैर घसीट रहे हैं, लेकिन अब पेट मे भूख की कुलबुलाहट है । यहा खाने को क्या मिले ? सामने एक झरबेरी का पेड है, उसके छोटे-छोटे खट्ठे-मीठे फल तोडकर खा रहे हैं । आगे एक करोदे का पेड मिला, उसके फल भी चखे गए । फिर एक आवले का पेड ! लेकिन इनसे क्या भूख मिट सकती है ? शाम तक पेट मे जैसे आग दहकने लगती है ।

पास मे सिर्फ सौ रुपयेका एक नोट है और फुटकर सिर्फ चार आने ।

सौ रुपये का नोट कहा भजे ? उनमे से एक आदमी जगल से निकल कर सडक के किनारे के एक भडभूजे की दुकान पर आता है और चार आने का चीउडा खरीद कर ले आता है ।

चौबीस घण्टे के वाद चार आने के छ छटाक अन्न पर छ आदमी टूटते हैं । "थोडा बचा करके भी रखो भाई, न-जाने फिर कव अन्न के दर्शन हो !" दो-दो मुट्ठी मुह मे रखते हैं, एक झरने से खूब पानी पी लेते हैं और एक पेड के निकट सो जाते हैं !

फिर भोर—फिर यात्रा ।

किन्तु यह क्या ? जयप्रकाश का साइटिका उभड आया है । सारे पैर मे तनाव है, दर्द है । वह चल नही पाते । पैर तो घायल हैं ही । दो साथी उन्हे सहारा देकर आगे बढा रहे हैं । कभी-कभी उन्हे लकडी पर टाग करके भी आगे वढते हैं ।

दिनभर चलते रहे । सघ्या के समय एक गाव निकट आया, एक परिचित गाव । इसी गाव मे तो दुबेजी, एक देशभक्त, हाल ही जेल से छूटकर आए हैं ।

दुबेजी ने भोजन का प्रवन्ध किया, वैलगाडी का प्रवन्ध किया । रात मे तीन आदमी वैलगाडी के ऊपर लेटे हुए हैं, तीन आदमी आगे-पीछे चल रहे हैं । वैलगाडी में लकडिया लाद दी गई हैं । इन तीनो के हाथ मे कुल्हाडी और डण्डे हैं । लोगो को लगता है, किसान लोग जगल से लकडी काटकर घर लौट रहे हैं ।

हजारीवाग जिला पार किया गया। गौतम बुद्ध की पावन भूमि गया जिले मे पहुच गए। वहा से शेरशाह के शाहाबाद जिले मे आए।

एक सप्ताह तक इसी तरह पैदल और बैलगाडी पर चलते रहे। फिर एक छोटे-से स्टेशन पर रेलगाडी पकडकर काशी पहुचे।

पहुचना था कलकत्ता—पहुच गए काशी!

गुपचुप एक प्रोफेसर मित्र के घर गए। मित्र थे नही, उनके नौकर ने कहा—"वावू, आपको क्या हो गया है? क्या बीमार थे?"

और, वावू भागे जा रहे हैं—कही इस नौकर ने इनाम के लोभ मे गिरफ्तार करा दिया तो!

(४)

१९४२ की नवी अगस्त भारतीय इतिहास मे अमिट हो चुकी है, तो उसकी १९४२ की दीवाली भी कभी नही भूली जा सकेगी।

भारत के राजनैतिक इतिहास के लिए यह एक अनोखी घटना थी।

वारट कटा, कही गायव हो गए। जेल मे भेजे जा रहे थे, बीच मे चम्पत हो गए। जमानत पर वाहर आए, नौ-दो ग्यारह हो गए—ऐसी घटना तो प्रायः घटती रही हैं, किन्तु जेल की दीवार को फाद कर पाच साथियो को लेकर एक साथ निकल भागना और वह भी जयप्रकाश-जैसे आदमी के लिए—एक विचित्र वात थी।

विचित्र वात यह भी थी कि शाम को ये लोग भागे और दूसरे दिन दोपहर तक जेलवालो को पता तक नही चल सका।

जो जेल मे रह गए थे, उन साथियो ने ऐसा प्रवन्ध किया कि जहा हर दो घटे पर कैदियो की गिनती होती है, वहा वीस घटो तक इनके भागने का पता नही चल सका।

जव दूसरे दिन वारह वजे उनसे परामर्श करने जेल का सुपरिटेंडेंट आया और उन्हे नही पाया तो उसे विश्वास भी नही हो रहा था कि जयप्रकाश भाग गए होगे।

जव जेल की पहली घटी वजी और घोषित किया गया कि जयप्रकाश जेल से भाग गए हैं तो वहा के सभी राजवन्दियो को लगा, सरकार पागल हो गई है क्या?

जब पुलिस सुपरिंटेंडेंट जेल के भीतर जाच-पडताल के लिए आया तो उसने भी कहा, "यह हो नही सकता कि जयप्रकाशजी भाग गए हो। आप लोग दिल्लगी कर रहे हैं !"

जयप्रकाश—इतने शान्त, इतने शिष्ट ! देश मे जिनकी इतनी प्रतिष्ठा ! गाधीजी ने जिन्हे समाजवाद का आचार्य कहा था ! वह भाग जाय ? राम, राम !

लेकिन, जो लोग ऐसा सोच रहे थे, और प्राय सभी लोग ऐसा ही सोचते थे, वे नही जानते थे कि जयप्रकाश के हृदय मे इस समय कौन-सी आग धू-धू कर रही थी।

जयप्रकाश ने देखा था, किस तरह प्रथम महायुद्ध (१९१४–१८) के समय हम लोग देखते ही रह गए और कितने देश उसमे फायदा उठा कर स्वतत्र हो गए।

यदि दूसरे महायुद्ध मे भी हम चूक गए तो हमारी गुलामी स्थायी-सी बनकर रह जायगी।

अत ज्योही दूसरा महायुद्ध छिडा, उन्होने आवाज लगाई—हमे आजादी की लडाई छेड देनी चाहिए।

रामगढ-काग्रेस के पहले ही उन्हे गिरफ्तार कर लिया गया। जेल से भी वह गुपचुप नेताओ के पास पत्र और अखबारो मे लेख भेजकर इस बात पर बार-बार जोर देते रहे।

जब पहली सजा भुगत कर वह छूटे, देशभर मे घूमघूमकर इसके लिए सगठन करने लगे। किन्तु बम्बई मे उन्हे फिर गिरफ्तार किया गया।

बम्बई से देवली कैम्प। देवली के वे खत—जिन्होने एक बार भारत को हिला दिया था और, अन्तत तीन सप्ताह के अनशन के बाद देवली कैम्प को तुडवाकर फिर हजारीबाग लौटे।

अगस्त-आन्दोलन के प्रारम्भ से ही वह इस चेष्टा मे थे कि कैसे जेल से भागा जाय।

लेकिन एक-पर-एक विघ्न आते रहे। अन्त मे यह दीवाली !

और उसके बाद—

उन्होने सारे भारत का दौरा किया—दिल्ली, बम्बई, मद्रास, कलकत्ता और नेपाल।

नेपाल मे गिरफ्तार हुए और आजाद दस्ते द्वारा उनका उद्धार किया गया। वह रोमाचकारी घटना तो अलग एक लेख की चीज है।

अब दूसरी दीवाली निकट पहुच रही थी। जयप्रकाश का स्वास्थ्य खराब हो चुका था। सोचा गया, अगली दीवाली काश्मीर मे मनाई जाय। वहा से लौटकर एक बार फिर होली जलाने की चेष्टा की जायगी। देश को आजाद किए बिना चैन कहा!

दिल्ली स्टेशन पर, जब गाडी रवाना होने को है, एक साहब आकर एक फर्स्टक्लास डब्बे मे चढ जाते हैं। डब्बा रिजर्व है। उसपर कार्ड लगा है—एस० पी० मेहता।

भोर। अमृतसर। साहब चाय की चुस्की ले रहे हैं कि तीन सज्जन आ धमकते हैं—एक अग्रेज, दो सिक्ख। तीनो खडे हैं, इन्हे घूर रहे हैं।

"बैठिए। तशरीफ रखिए।"

"आप कहा जा रहे हैं?"

"रावलपिडी।"

"आपका साथी कहा है?"

"साथी? मै तो अकेला हू।"

"तो आप सिर निकालकर किसे देख रहे थे?"

"आपको धोखा हो रहा है शायद।"

"यह नेपाल नही है।"

"नेपाल?"

"जीहा, आप बुरी तरह फस गए हैं।"

"आप क्या कह रहे हैं? मैं तो बम्बई का एक व्यापारी हू। मैं कभी नेपाल गया भी नही।"

"आप जयप्रकाश नारायण हैं।"

"जी नही, मै हू एस० पी० मेहता।"

"खैर, तलाशी दीजिए। आप जान गए होगे कि हम पुलिस-अफसर

हैं। आज आप बच गए, यदि फिर सिर निकालते तो हम आपको शूट कर देते।"

तलाशी। गिरफ्तार। लाहौर फोर्ट। वह रौरव यातना। हाबियस कॉरपस। आगरा-जेल। ब्रिटिश डेलिगेशन। गाधीजी की शर्त—पहले जयप्रकाश को छोडो। रिहाई।

× × ×

चौदह वर्षो के बाद भी जब-जब दीवाली की याद आती है, हजारी-बाग जेल मे उस दिन राजबदी द्वारा गाए गए वे समवेत स्वर कानो मे गूजने लगते हैं—

"दीवाली फिर आ गई, सजनी !"

और जब-जब जयप्रकाशजी को—उनके शान्त, सौम्य, स्निग्ध चेहरे को देखता हू, १९४३ के वे शब्द तरगित हो उठते हैं—"मै हू एस० पी० मेहता !"

: ११ :

रोटी और शराब

हाग्नात्सियो सिलोने यूरोप की तरुण पीढी के उन लेखको मे हैं, जिनकी कला की धूम अब ससारभर मे छा चुकी हे । इटली के इस सपूत की लेखनी ने इटली के जन-जीवन और सघर्षो का ऐसा चित्र उपस्थित किया है कि उसे देखकर विस्मय-विमुग्ध हो जाना पडता है ।

इस बार की यूरोप-यात्रा मे सिलोने से मिलने का सुअवसर पेरिस मे प्राप्त हुआ था । हम लोग एक ही सास्कृतिक सम्मेलन मे सम्मिलित होने के लिए पेरिस पहुचे थे । मैं जिस होटल मे ठहराया गया था, पता चला, उसीमे सिलोने भी ठहराए गए हैं, किन्तु वहा के अस्त-व्यस्त जीवन मे, होटल मे उनसे मिलना न हो सका । अचानक एक दिन सम्मेलन द्वारा आयोजित चित्र-प्रदर्शनी मे उनसे साक्षात्कार करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ ।

मझोला कद, भरा-पूरा शरीर, चौडा ललाट, पतली नाक, चमकती आखे और गेहुआ चेहरा । बालो मे अस्त-व्यस्तता, सफाचट दाढी पर सघन मूछे । पोशाक मे ढीला-ढालापन और, मैं कहू, चाल मे भी कुछ खोया-खोयापन का भाव । उनका नाम सुनकर मैंने उनके निकट जाकर भारतीय ढग मे नमस्कार किया, उन्होने भी दोनो हाथ जोड दिए । लेकिन दिक्कत यह कि वह अग्रेजी नही जानते और मुझे इटालियन भाषा का ज्ञान नहीं । किन्तु तुरत उनकी धर्म-पत्नी आ गई और उन्ही-के माध्यम से कुछ बाते हुई और तय पाया, हम लोग होटल मे एक दिन चाय पर मिलेगे । होटल मे जब हम मिले, उनकी पत्नी के माध्यम से ही काफी बातें हुई । भारतीय साहित्य की गतिविधि समझने के लिए उनमें बडी उत्सुकता देखी । मेरा अपना अनुभव है, इटली और भारत के अतरंग और बहिरग में बडी एकरूपता है और दोनो के ही कृषि-प्रधान

और धर्म-प्रधान देश होने के कारण दोनो की समस्याओ और उनके निदान मे भी समानता है।

सिलोने का जीवन बहुत रोमाचकारी रहा है। वह एक साधारण किसान के लडके हैं, उनकी माता अपने हाथो कपडे बुना करती थी। वचपन से ही अपने देश की दयनीय स्थिति की ओर उनका ध्यान गया और अठारह साल के होते ही उन्होने एक पत्र निकालकर अपने देश की जनता मे, खासकर युवको मे, नई क्रातिकारी भावना भरना शुरू कर दिया। जब इटली मे मुसोलिनी का उदय हुआ, सिलोने ने फासिज्म के खिलाफ जबर्दस्त आवाज उठाई, उनके अखवार को तीन बार जब्त किया गया। जब उन्हे मालूम हुआ कि फासिस्टो के गुर्गे उन्हे पकडने की ताक मे हैं, तो वह अपने देश से भाग निकले और पाच वर्ष तक निर्वासित जीवन का घोर कष्ट उठाते रहे, किन्तु देश की दुर्गति ने उन्हे बाहर भी नही रहने दिया। जव देश का जन-जीवन नष्ट किया जा रहा हो, जब जनता को गुमराह बनाकर उसे सर्वनाश की ओर घसीटा जा रहा हो, तव सच्चे देश-भक्त का काम सुरक्षा ढूढना नही, बल्कि जान पर खेलकर जनता को सच्ची राह बताना और उसे सघर्ष की ओर ले जाना होता है। अत सिलोने गुप्त वेश मे अपने देश लौटे और लगातार पाच वर्षो तक गुप्त वेश मे ही काम करते रहे। किन्तु स्थिति दिन-दिन गभीर होती गई, उनका इटली मे रहना विल्कुल ही असभव हो गया। इस बार १९३० ई० मे जव उन्होने देश छोडा तो चौदह वर्ष तक बाहर-ही-बाहर रहे। स्विट्जरलैण्ड के जूरिख नामक शहर मे ही इस अवधि मे वह मुख्यत रहे, किन्तु यहा भी वैठे नही रहे। उनकी लेखनी लगातार चलती रही। उनका साहित्य गुप्त रूप से इटली पहुचता रहा। यही नही, यूरोप का ध्यान भी, साहित्य के माध्यम से, वह इटली की ओर आकृष्ट करते रहे।

पिछले महायुद्ध मे जव मित्रराष्ट्रो की मुक्ति सेना यूरोप मे घुसी, सुअवसर जानकर, सिलोने ने अपने देश मे जाने का निश्चय किया। पादरी का वेश धारणकर उन्होने नाजी सेना को चकमा दिया और कितनी ही बार जान पर खेलकर अन्तत अपने देश मे पहुचकर उन्होने

इटली के आजाद दस्ते के सगठन मे योगदान दिया और उन्हे यह देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ कि फासिस्टो के खूनी पजे से उनके देश को सदा के लिए मुक्ति मिली। अब अपनी लेखनी द्वारा वह इटली के प्रजातन्त्र को ऊँचे स्तर पर ले जाने मे सलग्न हैं।

उनकी पुस्तको मे 'फोतामारा', 'ब्रेड ऐंड वाइन', 'सीड बिनीथ द स्नो', 'ऐंड ही हिड हिमसेल्फ' बहुत ही प्रसिद्ध हुई हैं। सिलोने मुख्यत. उपन्यास लिखते हैं, किन्तु उनकी अन्तिम पुस्तक नाटक है। आलोचको ने लिखा है, "उनके उपन्यासो मे गोगोल, दास्तावेस्की और मिलविले ऐसे महान् लेखको की उपन्यास-कला की झलक मिलती है।" यों तो 'फोतामारा' को बहुत प्रसिद्धि मिली, किन्तु उसमे प्रचार की पुट कुछ अधिक है। उनकी प्रतिभा और लेखन-कला का उत्कृष्टतम उदाहरण 'ब्रेड ऐंड वाइन' ('रोटी और शराब') है, अधिकाश आलोचको का ऐसा मत है।

'रोटी और शराब' से हम, अपने सस्कार के अनुसार, कोई अन्यथा अर्थ न निकालें। इटली मे यह एक खास अर्थ रखता है—वहा यह किसान-जीवन का प्रतीक माना जाता है। जब किसान के घर किसी बच्चे का जन्म होता है, पडोसियो मे रोटी और शराब बाटी जाती है और जब उसके घर किसीकी मृत्यु होती है, तब भी रोटी और शराब से ही उसका श्राद्ध सपन्न होता है। नया अन्न नौ महीने में तैयार होता है, अगूरी भी नौ महीने के बाद ही चखी जाती है और बच्चे का जन्म भी नौ महीने मे होता है। यो रोटी और शराब का नई मानवता के प्रतीक रूप मे भी लेखक ने व्यवहार किया है।

उपन्यास का कथानक बहुत छोटा है। एक बूढा पादरी, जो पहले शिक्षक का काम करता था, सध्या समय अपने कुछ शिष्यो की प्रतीक्षा कर रहा है, क्योकि आज उसका जन्मदिन है और इस अवसर पर सदा उनके कुछ प्यारे शिष्य आते रहे हैं। जो शिष्य आते हैं, उनमें एक डाक्टर है, एक पादरी। वे गुरुदेव की सेवा मे कुछ उपहार भी अर्पित करते हैं। पुराने जमाने की चर्चा आती है। अपने पुराने शिष्यों के बारे में पूछताछ करता हुआ बूढा पादरी पूछ बैठता है—वह लडका अब कहां

है, जिसका नाम स्पिना था ? स्पिना पर उसकी ममता है, क्योकि वह कुछ अजीब लडका था—बहुत ही गभीर, कम बोलता, दुबला-पतला, किन्तु दृढनिश्चयी, धुन का पक्का। पता चलता है, उसने क्रातिकारी राजनीति को अपनाया है। गिरफ्तारी से बचने के लिए वह फरार हो गया है, कोई-कोई कहते हैं, वह विदेश भाग गया है। बूढे पादरी का शिष्य यह कहने से भी नही चूकता कि वह तो नास्तिक हो गया है। उसके नास्तिक हो जाने की बात सुनकर बूढा पादरी घबराता नही, घृणा नही प्रकट करता, बल्कि बोल उठता है—"जो न्याय और सत्य के लिए जीता है, वह नास्तिक नही है, वह भगवान मे है और भगवान उसमे है।" यही नही, उस शिष्य के फरारी जीवन पर वह हार्दिक दुख प्रकट करता है—"लोमडी के लिए माद है और चिडियो के लिए घोसला, किन्तु आदम औलाद के लिए ऐसी जगह नही, जहा वह सर घुसा सके। हाय, जब वह अपने सपनो के अनुसार जीना चाहता है तो धर्म के ठेकेदार कहलाने वाले शासक उसे जगली जानवरो की तरह खदेडे फिरते हैं।"

यही स्पिना इस उपन्यास का नायक है। विदेश मे भी उसे चैन नही, वह वहा से छिपकर ही अपने देश लौटता है, दिन-रात काम करता है। न खाने का ठिकाना, न पीने का, न सोने का, न आराम करने का। वह बीमार पडता है, उसे क्षयरोग हो जाता है। तब वह अपने पुराने दोस्त उसी डाक्टर को बुलाता है, जो उस दिन बूढे शिक्षक पादरी के पास पहुँचा था। डाक्टर उसे पहचान नही पाता, क्योकि तेजाब डालकर उसने अपने चेहरे को ऐसा बना लिया है कि वह बहुत बूढा मालूम हो। किन्तु वह डाक्टर पर अपना भेद प्रकट कर देता है। उसी डाक्टर की सलाह से वह वहा से भागकर दूर के एक पहाडी गाव मे जाता है, अपनेको और भी छिपाने के लिए वह पादरी का वेश धारण कर लेता है।

इस गाव मे आने पर उसे अपने देश के लोगो के यथार्थ जीवन का परिचय होता है, वे कितने दकियानूस हैं, मूढ हैं, धर्मांध हैं। इसी सिलसिले मे उसका दो लडकियो से परिचय होता है, एक कामुकता की

मूर्ति है, दूसरी धार्मिकता की जीवित प्रतिमा। दूसरी लडकी की ओर वह कुछ आकृष्ट होता है, किन्तु देखता है, यह लडकी अपने मे ही, अपनी पवित्रता मे ही लिपटी हुई है। वह उसकी ओर से भी हटता है। तबतक उसकी तबीयत कुछ अच्छी हो चली है और उधर अबीसीनिया की लडाई शुरू होती है। वह सोचता है, यही क्राति का अवसर है। वह उस गाव को छोडकर रोम शहर मे आता है, जहा उसकी पार्टी का सदर मुकाम है। वहा वह पाता है, क्रान्तिकारी विचारवालो पर आफत है, वे सब-के-सब गिरफ्तार हो चले हैं। जो एकाध बचे हैं, वे सब लुकछिपकर क्राति का काम चला रहे हैं। वहा उसकी एक और लडकी से भेट होती है, जो अपने क्रातिकारी प्रेमी को बचाने के लिए अपने ऊपर बलात्कार होने देती है, किन्तु उसका प्रेमी इसके बदले उसके मुह पर थूककर चल देता है।

वह छटपटाता हुआ फिर गावो की ओर लौटता है। गाव के लोग फासिस्टो के प्रचार-जाल मे फस गए हैं। वे युद्ध के नशे मे पागल हैं—किसीकी युद्ध-विरोधी बात सुनने को वे तैयार नही, उल्टे उन लोगो को ही देश का दुश्मन समझते हैं। वह अपने गुरु बूढे पादरी से मिलता है। बूढे की दृष्टि पैनी है, यह अपने शिष्य की ही तरह इस युद्ध को सत्यानाशी समझता है। वह खुले आम युद्ध के विरोध मे, शान्ति और न्याय के पक्ष मे, प्रवचन करता है। किन्तु इसका फल उसे भी भुगतना होता है—उसे धोखे से जहर पिलाकर मार दिया जाता है। तब भी लोगो की आखे नही खुलती। इतने पर भी स्पिना हिम्मत नही हारता। वह फिर रोम जाता है। वहा उसकी उस कामुक लडकी से भेट होती है। डूबते को तिनके का सहारा। उसे ही लेकर वह फिर देहात लौटता है। किंतु अबतक उसे फसाने के लिए जाल बिछाया जा चुका है। वह समझ लेता है, उसका अत निकट है। वह उस गाव मे लौटता है, जहा वह बीमार की हालत मे रहता था, क्योकि वहा कुछ आवश्यक कागज-पत्र हैं। उन कागज-पत्रो मे एक नोटबुक है, जिसमे उस धार्मिक लडकी को लक्ष्य करके उसने कुछ लिख रखा है। वह नोटबुक उसके पास भेजकर वह पहाडी की ओर निकल पडता है, जहा बरफ-ही-बरफ है,

क्योकि अन्य सारे रास्ते उसके लिए बन्द हैं, सब जगह उसे पकडने के लिए खुफिया तैनात कर दिए गए हैं।

वह लडकी जब नोटबुक देखती है, चौक उठती है। जरा उसकी कुछ पक्तिया तो देखिए—

—हमारा प्रेम, हमारा बलिदान, हमारा त्याग सब झूठे हैं, व्यर्थ हैं, जबतक कि वे भावनामात्र हैं, अमानवीय सकेतमात्र। जब हम उनका उपयोग अपने मानव-बधुओ के लिए करते हैं, तभी वे वास्तविक बनते हैं, सफल होते हैं। वास्तविक जीवन मे ही नैतिकता जीवित रहती और विकसित होती है।

—जब हम अपनी नैतिक भावना को अपने चारो ओर फैली हुई अव्यवस्था की तरफ मोडेगे तब हम क्रियाहीन नही रह सकेंगे और न हम अपनेको स्वर्ग की कल्पना मे बहला सकेंगे। तब हमे कल्पना के शैतान से ही लडना न रह जायगा, बल्कि हम उन शक्तियो से लडना शुरू करेंगे जो आदमी को आदमी के खिलाफ खडा करती हैं।

—वह कैसा दिन होगा, जब तुम्हारी तरह के नैतिक और आध्यात्मिक भावना से ओत-प्रोत लोग अपनेको धार्मिक अनुष्ठानो मे न फसाकर सामाजिक जीवन को उन्नत बनाने के कार्य मे उत्सर्ग कर देगे। वही क्राति का दिन होगा, उसी दिन एक तरह के नए सत, एक तरह के नए शहीद, एक तरह के नए आदमी, पृथ्वी पर अवतरित होगे।

—आज के समाज मे इसके सिवा अपनी आत्मा की रक्षा के लिए कोई दूसरा मार्ग नही है। उसीकी आत्मा पतन से बच सकती है, जिसने व्यक्तिगत अहकार, पारिवारिक अहकार और वशगत अहकार पर विजय प्राप्त कर ली हो, जिसने अपने चारो ओर कल्पना का घेरा न बना लिया हो, जिसने अपनेको हवाई किले मे बद नही कर लिया हो। आत्मा उसीकी मुक्त है, जिसने अपनेको वर्तमान सामाजिक अवस्था से घबराकर भाग खडे होने की भावना को मार भगाया हो। नैतिक जीवन का अर्थ ही है उत्सर्ग और बलिदान का जीवन। आज के समाज मे क्रातिकारी जीवन ही यथार्थ मे नैतिक जीवन है।

—क्रिस्टिना, डरने की बात नही, अपनी पवित्रता की रक्षा के लिए

इस तरह परेशान होने की जरूरत नही। नैतिक जीवन और सुरक्षित जीवन साथ-साथ नही चला करते। अपनी सुरक्षा के लिए सघर्ष करना होगा, सकट झेलना होगा।

उस लडकी का नाम क्रिस्टिना है। इस नोटबुक को पढकर उसे पता चल जाता है, वह साधु नही, क्रातिकारी है। 'इस सध्या के समय वह वर्फ-भरी पहाडी की ओर गया है, रात मे उसकी क्या दशा होगी ? वह चल पडती है उस पहाडी की ओर—कुछ गरम कपडे लेकर, रोटी लेकर और एक वोतल मे इटली की प्यारी लाल शराव लेकर। वह पहाडी की घाटी मे घुस जाती है, इधर-उधर ढूढती है, दौडती है, थकती है, वेहोश होती है, फिर उठती है, चलती है, चिल्लाती है—स्पिना ! स्पिना ! किन्तु कोई उत्तर नही देता। जव वह योही गिरती-पडती वढ रही है, अचानक उसे आवाज सुनाई देती है। यह आवाज स्पिना की है ? नही, यह भेडिये की आवाज है ! यह आवाज उससे अपरिचित नही। वह समझ जाती है, उसका अन्त निकट है। एक वार जोरो से चिल्लाती है—स्पिना ! स्पिना ! किन्तु मानव-आवाज शात भी नही हुई कि वह खूखार आवाज उसके अति निकट आ गई। वह घुटने टेक देती है, प्रार्थना करती है, मूर्छित होती है।...

उपन्यास यही समाप्त होता है ! उपन्यास का प्रारम्भ हुआ था एक पादरी की ज्ञान-वाणी से, उसका अन्त होता है, एक पवित्रात्मा की करुण पुकार से। इसके वीच क्रातिकारी का वह सघर्पमय जीवन। सघर्प सिर्फ ऊपर का नही, भीतर का भी। सिलोने की तरह ही रूपोशी के लिए नायक ने पादरी का वाना धारण कर लिया है। भीतर क्राति की ज्वाला सुलग रही है, ऊपर दकियानूसी का चोगा लटक रहा है—इस द्वद्वमयी परिस्थिति मे जैसे नायक की आत्मा कभी आग मे झुलसती है, कभी वर्फ मे ठिठुरती है। फिर एक तरफ किताबी ज्ञान, दूसरी तरफ जन-जीवन का यथार्थ परिचय—दोनो में कितना अन्तर है। यह देखकर नायक की दशा अजीव दुविधामयी हो जाती है। वह नये-नये अनुभवों से गुजरता है, ये अनुभव मार्मिक पीडा लाते हैं, किन्तु वह कभी विच-लित नही होता, हमेशा कर्ममय वना रहता है। उसके अन्त को अनिर्दिष्ट

रखकर तो सिलोने ने और भी कमाल किया है। इस तरह यह पुस्तक निराशा का वातावरण नही उपस्थित करती, सतत प्रयत्न का ही सदेश देती है।

इस पुस्तक के पढते समय गोर्की की 'मदर' की बार-बार याद आती है, किन्तु गोर्की की उस अनुपम कृति से इसमें विशेषता है। वह कृति आरम्भ से ही पाठको को एक ख़ास दिशा की ओर ले जाती है, यो उच्चकोटि की कलाकृति होने पर भी वह प्रचार से दूर नही है। किन्तु इस पुस्तक के पढते समय यह कही नही मालूम पडता कि लेखक की अपनी मान्यता क्या है ? लगता है, वह निरपेक्ष भाव से अपने नायक के पीछे चलता हुआ उसकी शारीरिक और मानसिक गति का चित्र-पर-चित्र उपस्थित करता जा रहा है। यह चित्रण इतना स्वाभाविक और जीवनमय है कि कही ऊब या वितृष्णा पैदा नही होती। घटनाओ का ताना-बाना कही-कही ऐसा जटिल है कि जासूसी उपन्यासो का-सा मजा आ जाता है। हर स्थान पर एक सघर्षशील आत्मा की छटपटाहट का अनुभव होता है। जान पडता है, इस छटपटाहट से कितनी ही बार पाठक को स्वय भी गुजरना पडा है। इटली के प्राकृतिक दृश्यो की ऐसी पृष्ठभूमि रखी गई है कि उसकी मिट्टी, उसके पेड-पौधे, उसके झोपडे, उसके मन्दिर, उसके महल, उसके राजपथ, उसकी पगडडिया—सब चलचित्र की भाति आखो के सामने अनायास घूमने लगते हैं।

'रोटी और शराब'—ससार की सुन्दरतम कृतियो मे गिनी जायगी। क्या अपने देश के सघर्षो का ऐसा चित्र नही उपस्थित किया जा सकता ?

: १२ :

'एक भारतीय आत्मा'

सतपुडा की तलहटी मे, नर्मदा के किनारे, एक गाव मे एक गोरा-सा लडका कुछ फूल-पत्तो तथा कागज के टुकडो को लेकर एक दुनिया का निर्माण कर रहा था कि पडोस के घर से एक वालिका निकली। हौले कदमो से, वह चुपचाप आगे बढती गई और एक ही झपाटे मे उस वालक की दुनिया का सर्वनाश कर, खिलखिलाती हुई भाग चली। इसके पहले भी, वह इस आठ-नौ वर्ष के वालक को, कई वार तग कर चुकी थी; किन्तु इस वार उसका यह नटखटपन वालक को वहुत खला। उसकी आखो मे दो मुक्ताए चमक पडी, किन्तु उन्हे दरिद्र की निधि की तरह, उसने जहा-का-तहा जब्त कर लिया। अव उसका गोरा चेहरा तमतमा उठा—लाल, सुर्ख। वह चुपचाप वहा से चलता वना। घर आया। अपना वस्ता खोला। कागज निकाला। सरकडे की कलम से उसपर कुछ टेढी-मेढी लकीरे खीचने लगा। फिर कागज को वडी सावधानी से मोडकर अपनी जेव मे रख, वह गाव से वाहर ग्राम-रक्षक की तरह खडे हुए पुराने पीपल के पेड के निकट आ खड़ा हुआ। इधर-उधर देखा। जेव से कागज निकाला, उसको फिर पढा और साथ मे लाई हुई लोहे की एक कील को उस पेड मे ठोककर उसमे उस कागज को लटका दिया। एक वार इधर-उधर देखा कि किसीने देख तो नही लिया और फिर नौ-दो-ग्यारह हो गया। कुछ देर के वाद ही उस पेड के निकट एक छोटी-सी भीड लग गई। लोगो ने समझा, किसी के खेत की नीलामी का इश्तहार अदालत का चपरासी टाग गया है। उत्सुकतावश जव उसे देखने लगे तो पाई उसमें एक कविता—यदि उसे कविता कहा जाय तो। उस कविता द्वारा उस वालिका से वदला चुकाया गया था। वालिका का नाम था द्रौपदीवाई और उसके पिता का घनीरामजी। वस, दोनो के नाम के साथ,

कुछ और अटशट नामो को गूथगाथ कर, एक अजीबो-गरीब रचना की गई थी—

"धनीराम की पोली पाई,
उससे निकली द्रौपदी बाई।
द्रौपदी बाई ने काटी जामन,
उससे निकला कलुआ बामन।
कलुआ बामन लाया खाट,
उससे निकला काशी भाट।"

आदि-आदि।

थोडी ही देर मे यह कविता गाव-भर मे फैल गई। अपराधी रचयिता का पता भी नही छुप सका। बालिका के पिता बालक के अभिभावक के पास दौडे-दौडे आए और क्रोधपूर्ण उलहना दिया। प्राचीन सस्कार मे पले अभिभावक को भला यह शिष्टाचारोल्लघन कैसे पसन्द आता? गोकि बालक प्यारा था, किन्तु गोशमाली करने से बाज न आए। यो, इस बाल-कवि को अपनी कविता के प्रथम पुरस्कार के लिए अपने कान की मरम्मत करानी पडी। भला, उस समय यह किसने कल्पना की होगी कि एक दिन यही बालक हिन्दी ससार मे 'एक भारतीय आत्मा' के नाम से सादर स्थान पायगा।

× × ×

० माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा' का जन्मस्थान होने का गौरव महाकोशल के होशगाबाद जिले के बावई नामक ग्राम को प्राप्त है। उनका जीवन उस भूभाग मे ही बीता है, जो सदा नर्मदा के जल से सिंचित होता रहा है। अत एक लेखक ने उनका परिचय 'नर्मदा तट का गायक' के नाम से दिया था, जो सर्वथा उचित है। उनके जीवन पर ही नही, उनकी कविता पर भी नर्मदा नदी की छाप है। पहाड-पहाडियो और पथरीली भूमि मे उछलती-कूदती, लडती-झगडती-सी, तरगमयी, भवरमयी, यौवनसूचक, फेनमयी—कलकल-छलछल, हाहा-हूहू करनेवाली नर्मदा, 'ठडी शक्ति' की दुर्द्धर्पता और अजेयता का एक उज्ज्वल उदाहरण है। अपने गायक के जीवन और

वाणी मे भी निस्सन्देह उसने अपनी इन विशेषताओ को, बहुत-कुछ अशो मे, भर रखा है।

उनकी जन्म-तिथि है चैत शुक्ल एकादशी, सम्वत् १९४४ विक्रम (सन् १८८७)। 'एक भारतीय आत्मा' पेट की बीमारियो के सदा शिकार रहे हैं, जिसके कारण अनाहार और स्वल्पाहार उनकी खासियत हो गई है। अत. उनकी माताजी इस जन्म-दिन, एकादशी, की ओर लक्ष्य करके जबतब फबती कसा करती हैं—"अन्न तेरे बाट कहा पड़ा, जो तू खाय—तू तो एकादशी को जन्मा है।" उनके पिताजी का नाम था नन्दलालजी चतुर्वेदी। वह ग्रामीण स्कूल के एक साधारण मास्टर थे, किन्तु अपनी परिमित आय से ही अपने परिवार का इस प्रकार व्यवस्थापूर्वक भरण-पोषण करते थे कि लोगो को आश्चर्य होता था। स्वावलबन और स्वाभिमान की तो वह मूर्ति थे। जिस समय आज के 'एक भारतीय आत्मा' नाम से प्रख्यात उनके प्यारे पुत्र, उस समय के माखनलाल, ने अपने पैतृक धन्धे स्कूलमास्टरी से प्रारम्भ कर अपनी कमाई का पहला पैसा—कुछ रुपये—उनके पास मनीआर्डर से भेजा तो उन्होने उस मनीआर्डर को, कूपन पर यह लिखकर, लौटा दिया—

"आस पराई जो करे, होते ही मर जाय।"

माताजी की वीरता की तो एक ऐसी करुण कहानी है कि यदि आज भी उन्हे कोई ये पक्तिया सुना दे, तो दो-एक दिन का उपवास वह जरूर करें—जब-जब उसकी चर्चा चल पडी है, वे ऐसा ही करती आई हैं। सुनते हैं, वीर और करुण रस परस्पर विरोधी हैं, किन्तु इस घटना मे इन दोनो का समावेश विचित्र रूप मे हुआ है—

'एक भारतीय आत्मा' के पिताजी स्कूलमास्टर थे। गाव के एक छोर पर उनकी झोपडी थी। रात मे लडको को खानगी पढाने उन्हे उनके घर पर जाना पडता था और कभी-कभी देर से भी लौटते थे। मध्य-प्रान्त तो आज भी जगलो और टीलो-पहाडियो से भरा प्रदेश है। उस समय इस जगली प्रदेश मे चीतों की भरमार थी, अत. माताजी सदा अपनी बगल में एक लाठी लेकर सोती थी। यह आदत नगर मे भी आने पर बनी रही। एक रात को पडित

नन्दलालजी पढाकर कुछ देर से लौटे और दरवाजा खटखटाया। माताजी ने पूछा—"कौन ?" पडितजी को विनोद सूझा—चुप रहे। फिर दरवाजे पर खटखटाहट, फिर कौन का प्रश्न। एक-दो बार यही क्रम रहा। माताजी को आशका हुई, अत झूठ-मूठ, यह बतलाने के लिए कि घर मे कोई पुरुष भी है, बोली—"माखनलाल के पिताजी, उठिए, कोई दरवाजा खटखटा रहा है।" किन्तु इस चकमे मे स्वय माखनलाल के पिताजी कैसे आते ? फिर दरवाजे पर खटखटाहट ! माताजी की आशका दृढ हो गई, किन्तु अबला की तरह चीखने-चिल्लाने की अपेक्षा उन्होने अपनी लाठी सम्हाली और आगे बढी। दरवाजा खोला तो सामने एक मनुष्य की सूरत दीख पडी। बस, फिर क्या था, उनकी लाठी उसके सिर पर ! एक धीमी आह ! —अरे, यह तो पडितजी हैं ! माताजी को काटो तो खून नही ! उधर पडितजी के सिर से खून जारी। रोगनी की, दवा-दारू की, रोई और उपवास किया। आज भी कहा करती हैं—मुझे इसके लिए नरक भोगना पडेगा ! किन्तु इस घटना ने प० नन्दलालजी की आखो मे अपनी इस वीर पत्नी की कीमत कई गुनी बढा दी। जबतक वह जीवित रहे, पत्नी की इस वीरता की चर्चा अभिमान से करते रहे। प० नन्दलालजी के पूर्वज राजस्थान से आकर मध्य-प्रदेश मे बसे थे। तो क्या इस घटना को राजस्थानी वीरागनाओ के रक्त की एक झलक समझी जाय ?

× × ×

'एक भारतीय आत्मा' उन पुरुषो मे से हैं, जो आप अपना निर्माण करते हैं। एक पूरे परिवार का सचालन करनेवाले देहाती स्कूल के मास्टर अपने पुत्र को ज्यादा-से-ज्यादा जो शिक्षा दे सके, वह थी प्राइमरी तक की। प्राइमरी पास करके 'एक भारतीय आत्मा' होशगा-बाद जिले के ही एक ग्राम मे मास्टरी करने लगे। फिर वहा से खण्डवा चले आए। वहा के बम्बई बाजार के एक प्राइमरी स्कूल मे अध्यापक का काम किया। जिन लोगो ने उन दिनो एक गोरे, दुबले-पतले, युवक को दर्जनो बच्चो के बीच बैठे, उन्हे बारहखडी और पहाडा रटाते, देखा होगा, क्या उन्होने कल्पना भी की होगी कि यही दुबला-पतला,

लजीला-सा युवक एक दिन न केवल इसी नगर का, वरन् इस प्रान्त का एक प्रमुख पुरुष होगा और कितने ही प्रतिभाशाली सुशिक्षित युवक दूर-दूर से आकर इससे साहित्य की बारहखडी और कविता का पहाडा

किन्तु जिन्होने उस समय भी ध्यान से देखा होगा, उन्होने इस युवक मे कुछ ऐसी चीजे, बीज-रूप मे, पाई होगी, जिनसे कि उसके भावी जीवन की एक धुधली-सी तस्वीर बनाई जा सके।

जैसा कि कहा जा चुका है, कवित्व के नाम पर टेढी-मेढी लकीर खीचना तो 'एक भारतीय आत्मा' ने आठ-नौ वर्ष की उम्र से ही प्रारम्भ कर दिया था। पिताजी तुलसीकृत रामायण और सूरदास आदि के वैष्णव-पदो के बडे भक्त थे। अत उन्होने अपने पुत्र की रुचि स्वभावत ही इस ओर खीची और इस प्रकार प्रथम-प्रथम साहित्यिक गुरु का काम किया। जिस समय 'एक भारतीय आत्मा' प्राइमरी स्कूल की गुरु-ट्रेनिंग मे पढते थे, प० कुन्दनलाल नामक एक सज्जन अध्यापक थे। कविता से उन्हे शौक था। अपने इस प्रतिभाशाली छात्र मे भी उन्होने इस शौक को पल्लवित किया। सन् १९०३ मे ही, सोलह वर्ष की अवस्था मे, इस किशोर ने एक कविता के द्वारा सरस्वती से यो प्रार्थना की थी—

"जाही हाथ ताने सूर, तुलसी व कालिदास,
वाही हाथ मेरी मात, मोको तान दीजिए।"

खण्डवा मे भी गुपचुप रचनाए चलती थी, किन्तु अपनेको जब्त रखने की भावना इतनी प्रबल थी कि प्रकट नही होने दिया जाता था। आज भी यह रोग (मैं तो इसे रोग ही कहूगा) बना हुआ है। यही कारण है कि वर्षों से कितने ही प्रकाशको मे आग्रह तथा कितने ही मित्रो और भक्तो के दुराग्रह के बाद भी उनकी कविताओ का संग्रह नही प्रकाशित हो सका था। उस समय की केवल एक रचना कानपुर के 'रसिक मित्र' मे छपी और निस्सन्देह वही 'एक भारतीय आत्मा' की प्रथम प्रकाशित रचना है। उसकी दो पक्तिया यहा मैं इसलिए दे देता हू कि उनसे पता चलता है कि कवि की विचार-धारा उसके किशोर

जीवन से ही किस ओर प्रभावित हो रही थी—

"जायगो हमारा धन-धाम लुटि दूर देश,
कोई नाहि चलिवे को मारग बतायगो।
तायगो हरेक बलवान बनि, दीनन को,
हीनन को मानहु खजानो दिखलायगो।"

देश-प्रेम की धारा मे ही अपनी काव्य-प्रतिभा को विलीन कर देने वाले, नेतृत्व का बाना धर कितने ही तरुणो को बलिपथ की ओर प्रेरित करने वाले और बलवानो के उत्पीडन और शोषण से दीन-हीनो की रक्षा करने को सदा उद्यत रहने वाले 'एक भारतीय आत्मा' की आत्मा के भावी विकास का बहुत कुछ आभास इस कोरी तुकबन्दी मे भी मिलता है।

पन्द्रह-सोलह से लेकर पच्चीस-छब्बीस तक की उम्र के नौ-दस वर्ष ऐसे होते है, जिनका प्रभाव जीवन के गठन पर बहुत ही अधिक पडता है—ऐसा विद्वानो का कथन है। इन वर्षो के अन्दर ही 'एक भारतीय आत्मा' पर तीन सज्जनो का प्रभाव पडा और उनके भावी जीवन का गठन भी तदनुसार हुआ। वे तीनो महापुरुष हैं—सैयद अमीर अली 'मीर', स्वामी रामतीर्थ और प० माधवराव सप्रे। इन तीनो के प्रभाव के कारण 'एक भारतीय आत्मा' के हृदय मे बीज-रूप विद्यमान कवि-प्रतिभा, आध्यात्मिकता और देशभक्ति का पूर्ण विकास हुआ।

मुसलमान होकर भी हिन्दी के अनन्य सेवक, सुकवि मीरजी को आज हिन्दी-साहित्य-प्रेमी भूल-से रहे हैं। १९०८-९ की बात है। 'छन्द-प्रभाकर' और 'काव्य-प्रभाकर' के रचयिता श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानु' सेटिलमेट अफसर के रूप मे उस समय खडवा मे रहते थे। 'भानु कवि समाज' नामक सस्था भी उन्होने यहा कायम कर रखी थी। उस समय 'काव्य-प्रभाकर' का सकलन चल रहा था। भानुजी ने मीर साहब को रेवन्यू इन्सपेक्टर की जगह पर अपने पास बुला लिया था। इस प्रकार खडवा जैसी छोटी जगह मे भी साहित्य और कविता का एक विचित्र वायुमडल तैयार हो रहा था। युवक 'एक भारतीय आत्मा' को मीर-साहब ने देखा और इनकी प्रतिभा पर मुग्ध हो गये। यही नही, उन्होने इन्हे

खूब उत्साहित किया तथा काव्य-रीति से व्यापक परिचय कराया। 'एक भारतीय आत्मा' अपने काव्य-गुरु के रूप मे मीरसाहब का स्मरण करते हुए आज भी गद्गद् हो उठते हैं। मीरजी की सगति ने उन्हे हिन्दू-मुस्लिम-एकता का कट्टर हामी बना दिया। १९२१ के क्राति-युग मे निकली हुई 'एक भारतीय आत्मा' की इन पक्तियो मे मीरसाहब की आत्मा मुस्करा रही है—

"मन्दिर में हो चाद चमकता, मस्जिद मे मुरली की तान।
मक्का हो चाहे वृन्दावन, होवें आपस में कुर्बान।"

स्वामी रामतीर्थ से साक्षात्कार करने का सौभाग्य तो 'एक भारतीय आत्मा' को नही हुआ, किन्तु उनकी रचनाओ ने उनको सबसे अधिक प्रभावित किया ? स्वामी राम के कर्तृत्व से ओत-प्रोत, देश-प्रेम से लबा-लब आध्यात्मिकता के घूट ने किस सहृदय को एक बार मस्त न बना दिया होगा। फिर कहने और लिखने की उनकी वह अनूठी शैली ! स्वामी राम के शिष्य सन्त पूरणसिंह की हिन्दी रचनाए भी उस समय यदाकदा निकला करती थी। उनमे भी वही नवीन चीजे नवीन ढग से पेश की गई मिलती थी। 'एक भारतीय आत्मा' का भावुक हृदय इनकी ओर खूब ही खिचा। आज भी 'एक भारतीय आत्मा' की रचनाओ में, चाहे वे पद्य मे हो या गद्य मे, जो एक खास शैली दीख पडती है, उनका उद्गम स्थान है स्वामी रामतीर्थ के वे प्रवचन, यद्यपि इनकी शैली, स्थान, काल, पात्र के भेद से बिलकुल एक स्वतन्त्र—इनकी अपनी चीज ही बन गई है !

इसी समय आपको प० माधवराव सप्रे के सत्संग मे आने का सौभाग्य मिला। लोकमान्य तिलक के 'गीता रहस्य' के हिन्दी अनुवादक के ही रूप मे हिन्दी-ससार मुख्यत: सप्रेजी को जानता है, किन्तु सप्रेजी केवल इतने ही नही थे। मध्यप्रान्त के सार्वजनिक जीवन के निर्माण मे उनका प्रमुख हाथ है। महाराष्ट्रीय होने पर भी मध्यप्रान्त मे हिन्दी के प्रचार, प्रसार और उसके साहित्य के निर्माण के लिए जो प्रयत्न उन्होने किया, उसका अपना स्थान है। सप्रेजी उस समय नागपुर से 'हिन्दी-केसरी' निकाल रहे थे। उन्होने 'हिन्दी-केसरी' में 'स्वदेशी-आन्दोलन और बायकाट'

विषय पर एक लेख-प्रतियोगिता कराई और सर्वश्रेष्ठ लेख के लिए पुरुस्कार देने की घोपरगा की। 'एक भारतीय आत्मा' ने भी डरते-डरते एक लेख लिख भेजा। वह लेख पुरुस्कार-योग्य तो ठहरा ही, साथ ही सप्रेजी उससे बहुत प्रभावित हुए, और उन्होने प्रशसा करते हुए 'हिन्दी-केसरी' मे बराबर लेख लिखते रहने के लिए इनसे आग्रह किया। यही नही, कुछ दिनो के बाद सप्रेजी खडवा आये और इनसे मिले। सप्रेजी की इस सहृदयता ने उनको बहुत ही आकृष्ट किया और वे सप्रेजी के भक्त बन गये। वह अपने राजनैतिक गुरु के रूप मे सप्रेजी को मानते हैं। जबतक सप्रेजी जीवित रहे, 'एक भारतीय आत्मा' सदा उनके अनुयायी बने रहे, और आज भी 'कर्मवीर' पर 'स्व० प० माधवरावजी सप्रे की स्मृति मे' यह वाक्य छापकर उनके प्रति अपनी भक्ति प्रकट कर रहे हैं।

× × ×

धीरे-धीरे खडवा मे एक छोटा-सा, किन्तु क्रियाशील, क्षमताशाली, साहित्यिक दल तैयार हो रहा था। इस दल मे 'एक भारतीय आत्मा' के अतिरिक्त स्वर्गीय माणिकचन्द्र जैन, श्री कालूराम गगराडे, प० रामलाल राजवैद्य, श्री चम्पालाल चौहरी, श्री तोताराम पारगीर आदि सज्जन थे। धर्माध्यक्ष प० बिहारीलाल दाधीच भी उनमे प्रमुख थे, जो 'एक भारतीय आत्मा' के खास प्रेरको मे से थे। इनमे अधिकाश नौजवान थे। बाबू माणिकचन्द जी तो ऐसे उत्साही-साहित्य प्रेमी थे कि इन्होने यहा 'हिन्दी ग्रन्थ-प्रसारक-मडली' की स्थापना की थी, जिसके द्वारा सर्वप्रथम 'मिश्रबन्धु-विनोद' और 'हिन्दी नवरत्न' नामक दो ग्रन्थो का प्रकाशन हुआ था। मौलियर के नाटको का अनुवाद और प्रोफसर बदरीनाथ वर्मा द्वारा किया गया कवीन्द्र रवीन्द्र के 'समाज' नामक बगला-पुस्तक का अनुवाद भी इसी सस्था से प्रकाशित किया गया था। श्री कालूराम गगराडे के सम्पादकत्व मे इसी समय 'प्रभा' निकली, जिसके सम्पादन-विभाग मे 'एक भारतीय आत्मा' भी थे, और बाद मे तो सम्पादको मे इनका नाम भी छपने लगा। 'प्रभा' निकलते ही इन्होने स्कूल की मास्टरी छोड दी और अपना पूरा समय इसके सम्पादन और सचालन मे देने

लगे। 'प्रभा' ने इनकी प्रतिभा को और भी चमका दिया और इनमें एक सफल सम्पादक के गुण विद्यमान हैं, यह भी प्रकट कर दिया। किन्तु अपने को जब्त करने की भावना अब भी बनी हुई थी कि इसी समय एक ऐसे सज्जन से भेट हुई, जो इन्हे घसीटकर जनता के सम्मुख ले आये।

सयोग की बात। सन् १९१३ की रामनवमी को 'प्रभा' निकली और उसी साल विजयादशमी को 'प्रताप'। 'प्रताप' को देखते ही 'एक भारतीय आत्मा' को उसमे कुछ अपनापन-सा जचा। उन्होने 'प्रताप' पर अपनी सम्मति भेज दी। उसमे पता रखा—द्वारा पोस्टमास्टर, खडवा। इमी पते से 'प्रताप' के यशस्वी सम्पादक श्री गणेशशकर विद्यार्थी का उत्तर आया, जिसमे 'प्रताप' को अपनाने का खास आग्रह था। पत्र द्वारा ही धीरे-धीरे घनिष्ठता मे भी अभिवृद्धि होने लगी। अब एक-दूसरे को देखने की उत्कठा जगी। सयोग मे वैसा अवसर भी आ ही गया।

लखनऊ मे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन प० श्रीधर पाठक के सभापतित्व मे हुआ। 'प्रभा'-सम्पादक 'एक भारतीय आत्मा' भी उसमे शामिल हुए और 'प्रताप'-सम्पादक गणेशशकर विद्यार्थी भी, किन्तु जबतक अधिवेशन होता रहा, दोनो की मुलाकात नही हुई। सम्मेलन दशहरे की छुट्टियो मे हुआ था। उस साल विजयादशमी और मुहर्रम साथ-साथ पडते थे। मुसलमानो ने इस आकस्मिक घटना को आपस मे मिलने का ईश्वरीय सन्देश समझा था। समूचा लखनऊ—चाहे हिन्दू का घर हो या मुसलमान का—दीपमालिका से आलोकित हो रहा था। उस अपूर्व अवसर का अपूर्व सुख लूटते, दो छोटी-छोटी मित्र-मडली का नेतृत्व करते, दो युवक, दो दिशाओ से आकर लखनऊ के चौक पर पहुचे। दोनो ने एक-दूसरे को देखा। एक ने कहा—"आप गणेशशकरजी हैं ?" दूसरे ने उत्तर दिया—"आप 'एक भारतीय आत्मा' हैं ?" दोनो के गले मे दोनो की बाहे थी—सलाम-बन्दगी, शिष्टाचार और आधुनिक सभ्यता के नियम-कानून एक ओर रह गये। उसी दिन से दोनो एक ऐसे सूत्र में बधे कि एक की मृत्यु भी उस सूत्र को

नही तोड सकी। 'एक भारतीय आत्मा' की खूबी उनकी शोक-कविताए भी हैं। अपनी धर्मपत्नी, लोकमान्य, सप्रेजी, काग्रेस सत्याग्रह के शहीद विहारी-युवक हरदेव सिह आदि के निधन पर आपने जो पक्तिया लिखी हैं, वे अमर हैं, अजर है। मैंने एक दिन कहा—"आपने गणेशजी पर कुछ नही लिखा!" आखे छलाछला उठी, बोले—"क्या कहू, आज भी लिखने वैठता हू तो आखो मे दल-वादल उमड आते हैं और छाती की धडकन की बीमारी इस तरह उग्र हो जाती है कि कहा का लिखना! देखिये, यदि कुछ दिनो के वाद भावावेश कम हुआ तो लिखने की कोशिश करूगा—चाहता तो जरूर हू।"

गणेशजी उस समय आपको खीचकर कानपुर ले गये। वह स्वय भी अब खडवा आने-जाने लगे। जब-जव आते, एक काम जरूर करते। इनके कागज-पत्र, किनावे-कापिया, चिट्ठी-पुर्जे खोज डालते और जहा भी इनकी कविताए पाते, अपने साथ ले जाते और जव इच्छा होती, छपवाते।

गणेशजी के इस अत्याचार से, यदि इसे अत्याचार कहा जाय तो, हिन्दी-ससार का जो उपकार हुआ, उसके विपय मे कुछ कहने की आवश्यकता नही, अन्यथा तो न जाने कितनी कविताए अप्रकाशित ही रह जाती या सड-गल गई होती!

× × ×

'एक भारतीय आत्मा' के जीवन मे इन्ही दिनो अचानक एक ऐसी घटना घटी, जिसने इनके समूचे जीवन की धारा ही वदल दी। यह घटना थी इनकी पत्नी की मृत्यु। जब आप चौदह वर्ष के थे, तभी आपका विवाह हो गया था। उस समय देवीजी की उम्र कुल दस वर्ष की थी। जिस समय 'एक भारतीय आत्मा' अट्ठाईस वर्ष के युवक थे, उसी समय १६१४ के दिसम्वर मे, देवीजी का अचानक स्वर्गारोहण हुआ। पत्नी को ये कितना प्यार करते थे, या यो कहिये उस सुयोग्या पत्नी ने इनके हृदय पर कैसा स्थान वना लिया था, उसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि इस चढती हुई जवानी मे ही पत्नी के चल वसने पर भी इन्होने दूसरी शादी नही की। नई शादी करने के लिए कुछ कम

आग्रह नही हुआ। स्वय गणेशशकरजी इनसे आग्रह करने के लिए आए थे, और गणेशजी के हठ को मानकर इन्होने 'हा' भी कर दी थी, किन्तु गणेशजी के कानपुर पहुचते-न-पहुचते, एक लम्बी कविता 'एक भारतीय आत्मा' की ओर से उन्हे मिली। उस कविता को पढकर फिर गणेशजी ने पुनर्विवाह की चर्चा तक नही चलाई।

स्वर्गीया पत्नी इनकी कविता की बिन्दु ही वन गई। यही नही, इनके जीवन मे भी उन्होने अमिट छाप लगा दी। शरीर के सदा के लिए रोगी वन जाने के लिए भी मुख्यत यही घटना उत्तरदायी हे—कई डाक्टरो और वैद्यो तक ने कहा। मानसिक रुझानो के समझने के लिए भी यह घटना कुञ्जी-रूप है। 'एक भारतीय आत्मा' को वच्चो से अपार स्नेह है। जितना ही छोटा वच्चा, उतना ही अधिक प्रेम। गोद के बच्चो या पैजनिया वाले लल्लो के साथ तो दिन-के-दिन विता देना इनका स्वभाव हो गया हे। यह स्नेह इस कोटि तक पहुच गया है कि कितने ही युवक तक इनको अपनी साहित्यिक मा समझते हैं।

इस मातृपद के पाने मे इनकी पत्नी की मृत्यु प्रधान कारण हे। देवीजी वच्चो को वहुत प्यार करती थी। यद्यपि उन्हे सन्तान प्राप्त करने का सौभाग्य नही हुआ, तथापि इससे मातृपद प्राप्त करने मे उन्हे वाधा न हुई। पतिदेव मास्टर थे, अत स्कूल के वच्चो पर अपने वात्सल्य की वर्षा करने का उन्हे अवसर मिला। उस मातृ-ममता की धरोहर, अपने प्रस्थान के समय, वह 'एक भारतीय आत्मा' को सौंप गई है। इधर इन्होने वच्चो पर वहुत-सी कविताए भी लिखी हैं, जो इनके मातृ-हृदय की सूचक तो हैं ही, हिन्दी-साहित्य के लिए भी अनूठी चीज है।

× × ×

द्रव्याभाव के कारण 'प्रभा' वन्द हो गई। किन्तु तवतक 'एक भारतीय आत्मा' की कीर्ति दूर-दूर तक फैल चुकी थी और प्रान्त के सावजनिक जीवन में भी आप भाग लेने लगे थे। सन् १९१५ में जवल-पुर मे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन हुआ, जिसके सभापति पटना के सुप्रसिद्ध दार्शनिक-शिरोमणि साहित्याचार्य पं० रामावतार शर्मा

बनाये गये थे। इस सम्मेलन को सफल बनाने मे इन्होने प० माधवराव सप्रे के साथ खूब उद्योग किया। इनकी इच्छा तो यहा तक थी कि यह सम्मेलन खडवा मे ही हो, किन्तु कई कारणो से ऐसा न हो सका। इसी सम्मेलन मे लोगो ने 'एक भारतीय आत्मा' को एक नये रूप मे भी देखा।

खडवा की साहित्यिक जाग्रति का एक रूप था वहा का 'नार्मदीय नाटक-समाज'। इस समाज के द्वारा शुद्ध साहित्यिक नाटको के अभिनय का आयोजन होता था। इसके पात्रो मे 'एक भारतीय आत्मा' भी काम करते थे। 'नार्मदीय नाटक-समाज' ने प्रान्त की ओर से होने वाले जबलपुर के इस साहित्यिक समारोह के अवसर पर एक मौलिक नाटक खेलने का आयोजन किया और खेला भी। उस नाटक का नाम था 'कृष्णार्जुन युद्ध'। कृष्ण और अर्जुन का प्रेम तो जगत्प्रसिद्ध है, फिर यह युद्ध कैसा ? यो, एक तो नाम ही आकर्षक, फिर समूचे नाटक की रचना, उसकी भाषा शैली, उसके गानो की मधुरता, उसके कथानक की आधुनिकता—इन सब पर हिन्दी-ससार के कोने-कोने से एकत्र हुए साहित्यिक रसिक मन्त्रमुग्ध हो गये। "इसका रचयिता कौन है ?"—"कौन है इसका लेखक ?" का शोर रगमच पर ही मचने लगा। इसी समय एक दुबली-पतली, सीधी-सादी, गोरी-सी युवक-मूर्ति वहा खडी की गई। तालियो-पर-तालिया बजने लगी। हर्षध्वनि से रगमच गूज उठा। लोगो ने देखा, यह युवक एक शिल्पी कवि और एक कलाविद् पत्रकार ही नही है, एक कुशल नाट्यकार भी है। तबसे यह नाटक न जाने कहा-कहा और कितनी बार खेला जा चुका है। जबलपुर के उस साहित्यिक समारोह के समय ही दो-तीन दिन लगातार खेला गया। यदि रगमच की सफलता के साथ-साथ साहित्यिकता पर ख्याल किया जाय तो यह नाटक आज भी अपनी श्रेष्ठता का दावा कर सकता है।

किन्तु जिस समय 'एक भारतीय आत्मा' की चहुमुखी प्रतिभा को लोग विस्मय-विमुग्ध दृष्टि से देखते थे, ठीक उसी समय उस घुन ने, जो पत्नी-वियोग के साथ ही इनके शरीर मे प्रवेश करके धीरे-धीरे इनके शरीर को जर्जर कर चुका था, १६१६ मे इन्हे शैयाशायी बना दिया।

इस समय से पूरे तीन वर्ष तक ये मृत्यु और जीवन के हिंडोले पर बारी-बारी से झूलते रहे। बीमारी की भयकरता का अनुभव करके 'प्रताप' के सचालक श्री शिवनारायणजी मिश्र एव गणेशजी इन्हे कानपुर लिवा ले गये और उस बडे शहर मे जितने भी सम्भव-उपचार हो सकते हैं, किये गए, किन्तु रोग समूल नष्ट नही हुआ। आम्लपित्त की शिकायत थी। शरीर का वजन घटते-घटते ६४ पौंड तक आ पहुँचा। कानपुर मे भी इन्हे पूर्णतया स्वस्थ न होते देख इन्दौर के नामी चिकित्सक और साहित्य-प्रेमी डा० सरयूप्रसाद तिवारी इन्हे इन्दौर ले आये। इन्दौर मे एक वर्ष तक रहे। डाक्टर तिवारी के हाथो को यश मिला। 'एक भारतीय आत्मा' को मानो नवजीवन मिला।

इसी अर्से मे इन्दौर मे महात्मा गाधी के सभापतित्व मे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन हुआ था। इस बीमारी की दशा मे भी इन्होने इन्दौर-साहित्य-सम्मेलन के कार्य मे यथाशक्ति सहायता दी थी।

× × ×

१९१९ मे बीमारी से छुटकारा पाकर फिर 'एक भारतीय आत्मा' अपनी कर्मभूमि खडवा पधारे। उसी साल खडवा मे मध्यप्रान्तीय राजनैतिक और साहित्य परिषदे हुई। साहित्य-परिषद् मे एक प्रस्ताव पास किया गया कि इस प्रान्त से एक साप्ताहिक पत्र हिन्दी मे निकाला जाय, क्योकि तबतक सप्रेजी का 'हिन्दी-केसरी' बन्द हो चुका था।

इस अवसर पर डाक्टर मुजे भी खडवा पधारे थे। उन्होने 'एक भारतीय आत्मा' से आग्रह किया कि नागपुर चलिए, वही से एक पत्र निकाला जायगा। उस समय के डाक्टर मुजे की गिनती लोकमान्य के प्रधान शिष्यो मे होती थी और अपनी ओजस्विता और तेजस्विता के लिए वे काफी मशहूर थे। उन्होने उनकी सलाह मान ली होती, यदि उसी अवसर पर प० विष्णुदत्त शुक्ल ने भी उनसे यह अनुरोध न किया होता कि जबलपुर चलिए—वही से एक पत्र निकाला जायगा। शुक्लजी की सादगी, निष्ठा, सौम्यता और सज्जनता ने उनको अधिक आकृष्ट किया और इन्होने उन्हीका साथ देना निश्चित किया।

आखिर एक आयोजन हुआ और लोगो ने 'कर्मवीर' का प्रथम

दर्शन किया। इसके सम्पादक 'एक भारतीय आत्मा' बनाये गए। 'कर्मवीर' ने इनकी सम्पादन-कला पर सफलता की मुहर लगा दी।

'कर्मवीर' इनको एक राजनैतिक कार्यकर्ता के रूप मे भी जनता के सामने खीच लाया। यद्यपि अपने उग्र राजनैतिक विचारो और प० माधवराव सप्रे जैसे लोगो के सहवास के कारण सन् १९०८ से ही अपने घर के आस-पास पुलिसवालो का चक्कर लगाना और जब तब भद्दी आखमिचौनी-सा करना ये देखते आ रहे थे, किन्तु "अब तो बात फैल गई जाने सब कोई।"

१९२० मे 'कर्मवीर' निकला—उस समय जबकि रौलेट-ऐक्ट के कारण समूचे देश का वायुमडल विक्षुब्ध हो रहा था। दक्षिण अफ्रीका का 'कर्मवीर' गाधी, 'महात्मा' गाधी के नाम से, देश की प्रशान्त क्राति की समिधा एकत्र कर रहे थे। 'कर्मवीर' ने इस क्राति का सादर स्वागत किया और मध्यप्रान्त के कोने-कोने मे इसके सन्देश को पहुचाने का भार अपने ऊपर ले लिया। 'कर्मवीर' की पक्तिया—चाहे लेख हो या कविताए—महाकोशल की प्रसुप्त जनता मे जीवन और जागरण का मन्त्र फूक रही थी। भला, नौकरशाही इसे कब बर्दाश्त कर सकती थी! सन् १९२१ के जून मे आखिर उसने अपना १२४ ए० (राजद्रोह) का ब्रह्मास्त्र छोडा। 'कर्मवीर' के सम्पादक को आठ महीने की कडी कैद की सजा दी गई। 'कर्मवीर' का सचालन अपने योग्य सहकारी ठाकुर लक्ष्मणसिंह चौहान को सौप कर वे जेल चले गये।

१९२१ के उस प्रारम्भिक युग का जेल-जीवन आजकल के ए० और बी० डिवीजन का जेल-जीवन नही था। 'एक भारतीय आत्मा' की दुबली-पतली देह के भीतर निवास करने वाली आत्मा जितनी भी जाची जा सकती थी, जाची गई, किन्तु सोना तप कर कुन्दन बन कर निकला।

१९२२ मे अपनी सजा भुगतकर ये आये तब एक विचित्र वातावरण देखा। एक तो सन् १९२१ के आन्दोलन मे इन्होने जैसी उम्मीद की, वैसा काम मध्यप्रान्त ने नही किया। इधर अब यहा स्वराज्य-पार्टी का दौर-दौरा था और जिन श्री राघवेन्द्र राव के हाथ

मे प्रान्तीय काग्रेस कमेटी थी, वही स्वराज्य-दल की मध्य-प्रान्तीय शाखा के कर्णधार बने हुए थे। सबसे सकट की बात तो यह हुई कि प० विष्णुदत्त शुक्ल का भी स्वर्गवास हो गया और 'कर्मवीर' का भाग्यसूत्र भी मि० राव के ही हाथो मे था। 'कर्मवीर' एक लिमिटेड कम्पनी के द्वारा सचालित होता था, जिसके पाच डायरेक्टर थे—प० विष्णुदत्त शुक्ल, दीवान बहादुर वल्लभदास, प० गोविन्दलाल पुरोहित, ब्योहार रघुवीर सिह और मि० राघवेन्द्र राव। जवतक शुक्लजी जीवित थे, तवतक वही इसके कर्ता-धर्ता थे, किन्तु उनकी मृत्यु के बाद मि० राव की ही तूती बोलने लगी। मि० राव ने 'एक भारतीय आत्मा' से कहा कि आप 'कर्मवीर' का सम्पादन तो कीजिए, किन्तु स्वराज्य-दल का समर्थन करते हुए। महात्मा गाधी पर श्रद्धापूर्वक विश्वास रखने वाले, असहयोग और सत्याग्रह के कष्ट सहन करने वाले पथ को अपना जीवनोद्देश्य समझने वाले 'एक भारतीय आत्मा' को इस प्रतिक्रिया के मार्ग पर ले आना एक कठिन काम था। इन्होने एक बारगी 'नाही' कर दी। इस पर इनसे कहा गया कि इस्तीफा दे दीजिये, किन्तु इन्होने इसको भी अस्वीकार कर दिया। इनका कहना था कि इस पत्र के आदि-प्रतिष्ठाता थे प० विष्णुदत्त शुक्ल। उन्हीके परामर्श से इनकी नीति निश्चित हुई थी, और वह थी काग्रेस-नीति। अब शुक्लजी तो नही रहे, किन्तु मै अपने को उनकी स्वर्गीय आत्मा के प्रति जिम्मेदार समझता हू, फलत उनकी नीति पर ही 'कर्मवीर' को चलाऊगा। यदि आपको यह नीति नापसन्द हो तो मुझे डिसमिस कर दीजिये। मि० राव भी तो एक कंडे के आदमी थे। ऐसा करना उनके लिए बाए हाथ का खेल था—'एक भारतीय आत्मा' डिसमिस कर दिये गए।

जिस 'कर्मवीर' को ये शुक्लजी की धरोहर-रूप मानते थे, जिसके पौधे को इन्होने अपने कलेजे के खून से सीचा था, जिसके इर्द-गिर्द इन्होने मध्यप्रान्त के तरुणो के एक गिरोह को इकट्ठा कर लिया था, जिसके भविष्य के बारे मे इन्होने कितने ही मनसूबे बाध रखे थे, उसी 'कर्मवीर' से आप डिसमिस करके निकाले गये! 'एक भारतीय आत्मा' का हृदय

उस समय चीख उठा—

"भला किया, जो इस उपवन के सारे पुष्प तोड डाले,
भला किया, मीठे फल वाले ये तरुवर मरोड डाले,
भला किया, सीचो पनपाओ, लगा चुके हो जो कलमे,
भला किया, दुनिया पलटा दी प्रबल उमंगो के बल मे,
लो, हम तो चल दिये, नये पौधो, प्यारो, आराम करो,
दो दिन की दुनिया में आये, हिलो-मिलो कुछ काम करो।"

किन्तु इसके बाद ही आत्म-विश्वास की ध्वनि मे वे कह उठते है—

"पथरीले ऊँचे टीले है, रोज नही सीचे जाते,
वे नागर न यहा आते है, जो थे बागीचे जाते,
झुकी टहनिया तोड-तोड कर बनचर भी खा जाते है,
शाखामृग कधो पर चढकर भीषण शोर मचाते है,
दीनबन्धु की कृपा, बन्धु जीवित है हा, हरियाले है;
भूले-भटके कभी गुजरना, हम वे ही फलवाले है।"

यहा यह कह देना अप्रासगिक न होगा कि 'एक भारतीय आत्मा' की अधिकाश कविताए उनके जीवन से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओ की ओर सकेत करती हैं। शायद इसी कारण कभी-कभी कुछ लोगो को उनमे दुरूहता की गन्ध मालूम पडती है। यदि उन प्रसगो का आभास मिल जाय तो वे कविताए सरल और सुबोध हो जाय।

'कर्मवीर' ने 'एक भारतीय आत्मा' के सम्पादकत्व मे सन् १९२१ के असहयोग आदोलन मे जो काम किया, सो तो किया ही, उसके उस काल के कामो मे एक प्रसिद्ध काम है रतौना मे कसाईखाना बनाने वाले आयोजन को बिल्कुल व्यर्थ कर देना। मध्य-प्रान्त के देहात मे किये जाने वाले इस हत्याकारी आयोजन को एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न बना देना और आखिर उसे बन्द कर देने के लिए प्रान्तीय सरकार को बाध्य कर देना, 'कर्मवीर' जैसे एक देशी भाषा के पत्र के लिए उन दिनो कम गौरव की बात नही थी।

× × ×

'कर्मवीर' छोडने के बाद 'एक भारतीय आत्मा' होशगाबाद के देहात

में अपने घर चले आये और वही रहने लगे। कुछ ही दिनो के वाद सन् १९२३ मे, नागपुर का झडा-सत्याग्रह प्रारम्भ हुआ। भला, ऐसे अवसर पर ये कब चूकने वाले थे—फिर सेठ जमनालालजी की बुलाहट भी आ गई। यो तो ये सेठ जमनालालजी के सहचरो मे सदा रहे थे, और सेठजी से सदा इनको प्रेरणा मिलती रही थी, किन्तु यह झडा-सत्याग्रह तो स्वय अपनी प्रेरणा रखता था। ये उसी दम चल पडे। किन्तु इनके नागपुर पहुचते-न-पहुचते नागपुर-सत्याग्रह के सचालन मे लीन प्राय सभी नेता एक-एक करके गिरफ्तार कर लिये गए। मध्य-प्रान्तीय सरकार तुली हुई थी कि येनकेनप्रकारेण सत्याग्रह को दवा दिया जाय, किन्तु नेताओ की सगठन-बुद्धि तथा विहार, युक्तप्रान्त, मदरास, गुजरात आदि दूर-दूर प्रान्तो की जनता की वलिदान-भावना के कारण सरकार को झुकना पडा और अहिसात्मक सग्राम की विजय हुई। इस विजय-लाभ मे 'एक भारतीय आत्मा' के कर्तृत्व और लेखनी का एक अच्छा भाग था।

इसी समय फतहपुर मे एक राजद्रोही भाषण देने के अभियोग मे 'प्रताप' के प्रतापी सम्पादक श्री गणेशशकर विद्यार्थी गिरफ्तार कर लिये गये, और उन्हे एक वर्ष की सजा हुई। उन्होने 'प्रताप' का सम्पादन करने के लिए 'एक भारतीय आत्मा' का आह्वान किया। जबतक गणेशजी वापस न आ गये, इन्होने 'प्रताप' के सम्पादन-कार्य को भली-भाति सम्पन्न किया। इधर गणेशजी ने एक मासिक पत्रिका भी निकालना शुरू कर दिया था—अपने अन्यतम मित्र 'एक भारतीय आत्मा' की अस्तगत पत्रिका 'प्रभा' के ही नाम पर। गणेशजी के हाथो मे जाकर 'प्रभा' कितनी चमकी, यह हिन्दी के उन दिनो के पाठको से छिपा नही है। हिन्दी की अपने ढग की वह अनूठी मासिक पत्रिका थी। राजनीति और साहित्य का उतना सम्मिश्रण अन्यत्र देखने मे नही आया। 'प्रताप' के सम्पादक होकर आने के वाद 'प्रभा' का 'झडा-अक' 'एक भारतीय आत्मा' की ही देख-रेख में निकला। ऐसी चीज अब कहा देखने को मिलती है!

जब गणेशजी जेल से आये, तब उन्होने चाहा कि 'एक भारतीय

आत्मा' 'प्रताप' के ही परिवार मे रहे और मिल-जुल कर 'प्रताप' और 'प्रभा' को चलाया जाय, किन्तु ये सब छोडछाड कर मध्यप्रान्त की तलहटी मे आ धमके। आज भी 'एक भारतीय आत्मा' प्राय कहा करते है कि साहब, आप लोगो की गगा की वह समतल लम्बी चादर-सी एकरस फैली हुई भूमि भी क्या रहने की चीज है ! उफ्, वह कितनी गद्यात्मक है। देखिये, हमारा प्रदेश—नर्मदा और बेतवा जैसी धमा-चौकडी मचाने वाली नदिया, विन्ध्या और सतपुडा की वे नीची-ऊची तलहटिया, पथरीली, जगली जमीन—जीवन और कवित्व मानो यहा क्रीडा करते है।

× × ×

मध्य-प्रान्त मे आकर सर्वप्रथम इन्होने झडा-सत्याग्रह की रिपोर्ट तैयार की। तबतक 'कर्मवीर' मि० राघवेन्द्ररावजी के हाथो मे जाकर बन्द हो चुका था। अब इनको यह धुन सवार हुई कि उसे फिर निकाला जाय। प० माधवराव जी सप्रे इन्हे बाध्य करने लगे कि 'कर्मवीर' निकालना ही चाहिए। यद्यपि सभी प्रकार के साधनो का अभाव था, तथापि असम्भव को सम्भव बनाने वाले मनसूबे का अभाव तो नही था। इन्होने प्रान्त मे दौरा शुरू किया। 'कर्मवीर' का बन्द होना सबको अखर रहा था—एक जोरदार सुसम्पादित पत्र का अभाव भी लोग अनुभव कर रहे थे। अत प्रान्त के लोगो ने इनके इस आयोजन के प्रति क्रियात्मक सहानुभूति दिखलाई और सन् १९२५ की ८ अप्रेल (रामनवमी) मे 'कर्मवीर' का पुन प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, किन्तु इस बार वह जबलपुर मे न निकलकर खडवा से निकला।

१९२५ से १९३० तक 'कर्मवीर' मजे मे चलता रहा। हा, इसी बीच इन्दौर के भूतपूर्व नरेश और मुमताज-सम्बन्धी आन्दोलन चला। इस आन्दोलन मे 'कर्मवीर' ने काफी भाग लिया। खडवा से निकलने के कारण मध्य-भारत के देशी राज्यो के ममलो की ओर 'कर्मवीर' का ध्यान इस बार विशेष रूप से था। उसको अपनी छोटी उम्र मे ही मध्य-भारत के जैसे राज्य से लोहा लेना पडा, जो सभी राज्यो मे प्रमुख स्थान रखता था तथा सब प्रकार के साधनो से सम्पन्न

था, किन्तु 'कर्मवीर' अपने व्रत पर डटा रहा। उसका इन्दौर-राज्य मे प्रवेश कानूनन बन्द किया गया। यही नही, वह जिनके पास पाया जाय, उन्हे दड देने की भी व्यवस्था की गई। इससे भी उसके स्वर मे कोई परिवर्तन न हुआ, तब जिन राजनैतिक दावपेचो से काम लिया गया, उसका यहा जिक्र न करना ही उचित होगा।

इतने मे १९३० का मस्ताना साल आ गया। फिर 'एक भारतीय आत्मा' की पुकार हुई और मध्य-प्रान्तीय सरकार ने एक ही दिन मे मध्य-प्रान्त के जिन पाच नेताओ को गिरफ्तार कर लिया, उनमें एक थे 'एक भारतीय आत्मा'। पाच-छ हफ्तो के वाद 'कर्मवीर' भी बन्द हो गया।

१९३१ के मार्च मे जेल से छूटे, नो 'कर्मवीर' के रास्ते मे एक विचित्र कठिनाई देखी। तो क्या 'कर्मवीर' वन्द रहेगा? वृद्ध हड्डियो मे एक बार फिर गर्मी आई और ये पुन भिड पडे। ४ अप्रैल से फिर 'कर्मवीर' का प्रकाशन आरम्भ कर दिया गया, इधर पच्चीस वर्षो से वह एक स्वावलम्वी पत्र के रूप मे प्रान्त की और हिन्दी की सेवा कर रहा है।

इन सतत् सघर्षो ने चतुर्वेदीजी की काया को जर्जर वना दिया है। अब राजनैतिक सघर्षो मे पडने की न इनकी प्रवृत्ति रही, न वह शक्ति। किन्तु उनका प्रोत्साहन सदा तरुण पीढी को मिलता रहा है और आज भी मिल रहा है। हिन्दी-ससार ने इन्हे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का सभापति वना कर तथा चादी से तौल कर अपना सम्मान इनके प्रति प्रकट किया। इनकी स्वर्ण-जयन्ती भी उसने धूमधाम से मनाई। इनका प्रोत्साहन लेने के लिए अनेक लेखक और कवि सदा इनके श्रीचरणो मे पहुचा करते हैं और इन्हें वे अपने नाम के प्रथम अक्षर 'मा' के ही अनुरूप ही मानते और दुलारते रहते हैं।

: १३ :

भूख और कला

वॉन गौग यूरोप का ऐसा कलाकार हुआ है, जो जिन्दगी भर तिरस्कार पाता रहा, किन्तु मरने के पचास वर्ष बाद ही जिसकी प्रसिद्धि इतनी बढी कि जिन चित्रो को उसने रुपये-आने मे बेचा था, वे आज हजारो-लाखो मे बिकते है। इस ऊचे कलाकार का जीवन अनोखा रहा है। इरविंग स्टोन ने 'लस्ट फॉर लाइफ' नाम से उसकी वैसी ही शानदार जीवनी भी लिख डाली है।

बेचारा कलाकार! जिन्दगी-भर कैसी परेशानियो मे रहा! चारो ओर से लाछना और अपमान ही पाता रहा। सदा अभाव मे रहा। किन्तु कला के प्रति कैसी अटूट निष्ठा! चित्र-पर-चित्र खीचता रहा, खीचता रहा। और जिस विजय की आकाक्षा की, उसे मिलकर रही—हा, जीवन मे नही, मृत्यु के बाद।

कभी-कभी उसकी व्यथा पर आखे भर आती हैं। अभी दो स्त्रियो से प्यार के बदले पत्थर पाते उसे देख चुका हू। अगरेजी युवती ने उसे ठुकराया था, उसकी चचेरी वहन ने भी उसे ठुकरा दिया।

इरविग ने उसके मानसिक कष्टो का कैसा सजीव वर्णन किया है! जब उसकी चचेरी वहन ने उसे ठुकराया, उसने अपने प्रेम का सवूत उसके वाप के सामने किस तरह दिया?—मोमवत्ती पर हाथ रख। त्वचा जली, मास जला और वह निर्निमेष खडा रहा! उफ!

उसमे एक स्थल ऐसा आया है, जहा वॉन गौग कई दिनो से भूखा रहा है। वह भूख से व्याकुल विछौने पर लेटा है। ऐसा वह प्राय किया करता। किन्तु, फिर सोचा, एक सज्जन से वह कुछ पैसे उधार क्यो न माग ले। जहा दूसरे लोग उसकी चित्रकला पर नाक-भौ सिकोडते, उस सज्जन ने एकाध बार तारीफ कर दी थी। जव उनके यहा पहुच कर उसने अपना अभिप्राय कहा तो वह चित्रकार सज्जन वोल उठे—

"नही बच्चे, नही, तुम गलत आदमी के पास आये—ससार मे सबसे गलत आदमी के पास। मै तुम्हे एक छदाम भी नही दे सकता।"

"क्या आपके पास फालतू पैसे नही हैं ?"

"हैं क्यो नही ! क्या मै तुम्हारी तरह नौसिखिया हू कि जो पैसे न होगे ! बेंक मे इतना जमा कर दिया है कि तीन जन्म तक खा सकता हू।"

"तो मुझे कुछ रुपये क्यो नही दे देते ? मेरी हालत बहुत बुरी है। घर मे रोटी का एक टुकडा तक नही है !"

वह सज्जन आनन्द मे हाथ मलने लगा—"बहुत अच्छा, बहुत अच्छा। यही तो चाहिए। तुम्हारे लिए इसी की तो जरूरत है। अब तुम चित्रकार बन सकोगे।"

वॉन गॉग दीवार से सट गया, वह बिना सहारे के खडा भी नही रह सकता था। फिर पूछ बैठा—"भूख मे ऐसी क्या खूबी है, महाशय ?"

"तुम्हारे लिए सबसे अच्छी चीज यही है। यह तुम्हे कष्ट देगी, सतायगी, छटपटायगी।"

"मै कष्ट सहू, आप ऐसा क्यो चाह रहे हैं ?"

"क्योकि तब तुम सच्चे कलाकार बन सकोगे। जितना कष्ट पाओ, उतना ही शुक्र मनाओ। इसी बात से सच्चे कलाकार का निर्माण होता है। खाली पेट भरे हुए पेट मे कही बेहतर है। टूटा हुआ दिल आनन्द मे रमे दिल से कही उत्तम है। इसे सदा याद रखना, वॉन गॉग !'

"ये बेहदी बाते हैं, क्या आप ऐसा नही समझते हैं।"

चित्रकार सज्जन ने अपनी कूची उसकी ओर हिलाते हुए कहा—"जिसने पीडा नही उठाई, वह चित्रण किसका करेगा ? आनन्द तो एक पाशविक वृत्ति है। वह बैल को चाहिए या व्यापारी को। कलाकार तो पीडा मे पलता है, पीडा मे बढता है। यदि तुम्हे भूख मिलती है, निराशा मिलती है, दुर्भाग्य मिलता है तो समझो, भगवान् तुम पर खुश है।"

'गरीबी बरबाद कर देती है, पीस डालती है।'

"हा, यह पीस डालती है, किसको ? जो कमजोर हैं, उनको। जिसमे हौसला है, बल है, उसे यह बरबाद कर नही सकती। यदि गरीबी तुम्हे पीस दे सके तो तुम कमजोर हो और तुम्हे नष्ट ही हो जाना चाहिए।"

"और तब भी आप मेरी मदद को हाथ नही बढायगे ?"

"नही। यदि तुम अपने को ससार का सर्वश्रेष्ठ चित्रकार समझो तब भी नही। यदि भूख किसी को मार सके तो उसे बचाने का कोई मतलब नही। ससार उन कलाकारो का है, जिन्हे न भगवान, न शैतान मार सके, जबतक कि वे अपनी उन सारी चीजो को दे न ले, जिन्हे देने को वे भेजे गए हैं।"

"किन्तु मै तो वर्षो से भूखो मर रहा हू। मेरे सिर पर कभी छत नही रही। वर्षा मे, बर्फ मे मैं नगे बदन, खाली पाव घूमता रहा हू, जाडे से कापता, ज्वर से कापता, कोई देखनेवाला नही, कोई पूछनेवाला नही। कष्टो से जो कुछ सीखना था, मै सीख चुका।"

"नही, बच्चे, नही। अभी तो तुमने कष्ट की ऊपरी सतह ही कुरेदी है। अभी तो तुमने शुरू ही किया है मै कहता हू, पीडा से अधिक शाश्वत वस्तु ससार मे और कुछ नही है। मै कहता हू, जाओ, भागो, दौडो, घर पहुचकर झटपट कूची पकडो। पेट मे जितनी ज्यादा कुलबुलाहट रहेगी, उसी फुर्ती से तुम्हारे हाथ चलेंगे।"

"और उतनी फुर्ती से मेरी चीजो को लोग रद्दी के टोकरे मे डाल देंगे।"

चित्रकार सज्जन ठठाकर हॅस पडे—"हा-हा, वे रद्दी के टोकरे मे डाली जायगी। यही तो चाहिए। इसीमे तो तुम्हारी भलाई है। इससे तुम्हारा कष्ट और बढेगा। तब तुम्हारा अगला चित्र पहले से अधिक अच्छा बन पडेगा। यो जब बहुत दिनो तक तुम भूखे रहोगे, कष्ट उठाओगे, गालिया सुनोगे, उपेक्षा पाओगे, तब कही वर्षो के बाद वह समय आ सकेगा—याद रखो आ सकेगा, आयगा ही, ऐसा मैं नही कह रहा हू—कि तुम्हारे चित्र ससार के महानतम कलाकारो के चित्रो की बगल मे स्थान पा सकेंगे।"

"या आपके चित्रो के साथ..."

"यह भी कह लो। किन्तु यदि मै आज तुम्हे पैसे दे देता हू तो मै तुम्हारे लिए वह मार्ग बन्द कर देता हू, जो तुम्हे अमरता की ओर ले जायगा।"

"अमरता की ऐसी-तैसी ! मै तो अभी और यहा के लिए चित्रण करना चाहता हू और भूखे पेट चित्रण कर नही सकता।"

"बेवकूफी की बात ! जितने भी सर्वोत्तम चित्र बने हैं; सब खाली पेट से ही बनाये गए हैं। जब अतडिया भरी होती हैं, वे कुछ दूसरे ही चित्र बनाती हैं।"

कहते हुए वह सज्जन फिर मुस्करा पडे।

मेरा विश्वास है कि वॉन गौग की जीवनी की ये पक्तिया पढकर निराश और हताश लेखको को अपने पर, अपनी रचना पर, आस्था होगी और वे अपनी कठिनाइयो से जूझते रहेगे, यह समझकर कि बडे-से-बडे कलाकार को भी ऐसी-ऐसी मुसीबतो का सामना करना पडा है, जिनके सामने उनकी मुसीबतें हल्की हैं, तुच्छ हैं। जिनमे मौलिकता है, उन्हे दुनिया देर से पहचानती है। फलत. उन्हे अधिक कठिनाइयो का सामना करना ही पडता है।

: १४ :

एक साहित्यिक सन्त

मैने एक जगह लिखा है, जिसमे साधुता नही हो, उसे साहित्यिक मत मानो। साधुता और साहित्यकता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। साधु से मेरा मतलब यह नही कि वह कफनी ओढे हो, धूनी रमाये हो, ससार से अलग-थलग हो। साधुता के साथ मे सरलता, सहृदयता, निश्छलता, परदुख-कातरता, परोपकारिता आदि गुणो को सम्बद्ध मानता हूँ। साधुता के साथ साधना तो सलग्न है ही।

यह हमारा सौभाग्य है कि इस युग मे हमारे बीच एक ऐसे साहित्यिक हैं, जिन्हे हम एक साहित्यिक सन्त बिना हिचक के कह सकते हैं। वह हैं भाई शिवपूजनसहायजी, जिन्हे नई पीढी के लोग आदर से 'आचार्य शिवपूजनसहायजी' कहते हैं और हम सिर्फ 'शिवजी' कह कर अपनी आत्मीयता प्रकट करते हैं।

विहार के साहित्यिको की जो पीढी आज हिन्दी-सेवा मे तत्पर है, उसके निर्माण मे शिवजी का कितना हाथ है, जब कभी इतिहास इसका उल्लेख करेगा, लोग चकित हो जायगे। यह तपस्वी अपने को सदा पीछे रखकर लोगो को वढाता रहा—उन्हे सवारता, सजाता रहा, उनकी पीठ ठोकता और आगे वढने को प्रेरित करता रहा। विनय उनके रग-रग मे भरी है, हिन्दी-सेवा उनके जीवन की सास है। वासठ वष की उम्र मे भी, कई साघातिक रोगो के कारण, अपनी जर्जर काया को लेकर जो आज भी सरस्वती की सेवा और आराधना मे दिन-रात लगा है—उसका चरित्र-चित्रण कर किसी की भी लेखनी अपने को धन्य मान सकती है। मै इन पक्तियो को लिखते समय आनन्द से पुलकित हो रहा हूँ।

शिवजी एक गरीव परिवार से आये हैं। एक वार मैंने उनसे वच्चो के लिए अपने बचपन की घटना लिख देने का आग्रह किया। उन्होने

उसका प्रारम्भ किया था, अश्वत्थामा के बचपन की घटना से, जब उसकी माँ, द्रोणाचार्य की पत्नी, दूध के लिए जिद करने पर, उसे आटा घोलकर पिला देती थी। शिवजी जिद्दी कभी नही रहे, किन्तु उनकी माँ ममता-वश अश्वत्थामा की माँ का ही अनुसरण करती थी। महीन पिसे हुए चावल के घोल को शिवजी दूध की तरह बडे चाव और ललक से पी जाया करते थे।

बचपन से ही शिवजी बडे भोले थे। उनकी माँ उन्हे 'भोलानाथ' कहकर पुकारती थी। गरीबी के बावजूद बालक शिवजी को वह बडे लाड-प्यार से पालती। शिवजी मे बचपन से ही प्रतिभा की झलक दिखाई पडती थी। किन्तु गरीबी तो वह चक्की है, जिसमे बडी-बडी प्रतिभाए पिसती रही हैं। शिबजी ने थोड़ी ही शिक्षा प्राप्त की और परिवार के भरण-पोषण की दृष्टि से बनारस जाकर कचहरी मे काम करने लगे। एक गोरा-चिट्टा, खूबसूरत, हसमुख किशोर कचहरी के अहाते मे किसी वृक्ष के नीचे टाट बिछाकर उसपर कागज-पत्र बिखराये बैठा किसी मुअक्किल की प्रतीक्षा मे है, जो दो-चार आने पैसे देकर अपना दस्तावेज उससे लिखवाये—आज के आचार्य शिवपूजनसहाय, (जिनके चरणो के निकट बडे-बडे विद्वान् बैठने में गौरव अनुभव करते हैं) की इस मूर्ति की कल्पना भी भावमुग्ध बना देती है !

जीविका की खोज मे इधर-उधर भटकते रहने पर भी विद्या का व्यसन नही गया। किसी तरह मैट्रिक पास कर अपने शहर—आरा (बिहार)—मे एक स्कूल में वह मास्टर बने।

आरा उन दिनो बिहार मे साहित्यिक जागरण का केन्द्र था। वहां की नागरी प्रचारिणी सभा काशी की नागरी प्रचारिणी सभा से प्रतिद्वद्विता करती थी। शिवजी ने सभा से सम्पर्क स्थापित किया और उसके विशाल पुस्तकालय की सहायता से अपने ज्ञान की वृद्धि मे तत्पर हुए। अन्ततः उस पुस्तकालय के वह पदाधिकारी भी बनाये गए। महा-महोपाध्याय प० सकलनारायण शर्मा, तुलसीदास और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के प्रथम जीवनी-लेखक बाबू शिवनन्दनसहाय, 'सौन्दर्योपासक' नामक मौलिक उपन्यास के रचयिता बाबू ब्रजनन्दन सहाय, 'मनोरजन' के

सम्पादक प० ईश्वरीप्रसाद शर्मा आदि महान् साहित्यिक आचार्यों की सगति का लाभ उन्हे मिलने लगा। शिवजी के हृदय मे, अत सलिता फल्गु की तरह जो साहित्य-गगा तरगित हो रही थी, वह अनायास प्रत्यक्ष हुई। उनकी रचनाए पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित होने लगी।

उन दिनो गया से 'लक्ष्मी' नामक पत्रिका प्रकाशित होती थी, जिसके सम्पादक थे लाला भगवानदीनजी। 'लक्ष्मी' की प्राय 'सरस्वती' से टक्कर हो जाया करती थी। लालाजी हिन्दी के प्राचीन साहित्य के आचार्यों मे से थे। 'लक्ष्मी' मे हिन्दी की प्राचीन कविताओ की बानगी भी प्राय मिला करती। मैं उसका, अपनी किशोरावस्था मे भी, नियमित पाठक था। उसमे शिवजी का एक लेख मैने पहले-पहल पढा। शीर्षक था—"हमारे हिन्दी के कवियो ने कमाल किया है!" कविताओ का चुनाव तो चुटीला था ही, उसकी व्याख्या मे मैने एक नवीन शैली पाई। शब्दावली क्या थी, मोतियो की लडी! मोती ही की तरह चमकते-दमकते शब्द, जो भाव-सूत्र मे इस तरह पिरोये गये थे कि मन को मोह लेते थे। मै उस लेख से ही शिवजी के प्रति आकृष्ट हो गया था, किन्तु क्या उस दिन यह सोच सका था कि यह आकर्षण आजीवन का हार्दिक बन्धन बन जायगा!

और, सयोग ऐसा घटा कि मै कई सप्ताहो के लिए उनके सानिध्य का सुअवसर पा सका। बिहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का सगठन हो चुका था। मै उसका सहकारी मत्री बनाया गया था। वेतिया मे उसका द्वितीय अधिवेशन हुआ, जिसके सभापति थे सूर्यपुराधीश राजा राधिकारमणप्रसादसिह। सम्मेलन ने अपना प्रकाशन प्रारम्भ करने का निर्णय किया और उसके लिए प्रथम पुस्तक देने और छपाने का भार लिया राजासाहब ने ही। 'तरग' नाम से वह पुस्तक निकली। उस पुस्तक की पाण्डुलिपि लेने के लिए मै राजासाहब की सेवा मे आरा पहुचा। वही शिवजी से साक्षात्कार हुआ। शिवजी की उन दिनो की तस्वीरें मेरी आखो मे आजतक झूल रही हैं!

गोरा-चिट्टा चेहरा, घुघराले काले बाल उसकी शोभा और आभा द्विगुणित कर रहे थे। बालो को इस तरह सवारते कि उसका एक गुच्छा

चमचमाते ललाट पर लटका होता। रसीली आखे, जो हँसी मे सदा उनके होठो से प्रतिद्वद्विता करती। बहुत लोगो को पान खाते या चबाते देखा है, किन्तु शिवजी के होठो पर पान की जैसी लाली खिलती, वैसी दूसरो के होठो पर खिलती, बहुत कम पाई है। बाते करते-करते खिल-खिलाकर हँस पडते, ताम्बूल-रजित उनकी दतपक्ति, कौध उठती! कितने चुटकुले याद, कितनी कविताए कण्ठस्थ! सध्या को किसी-न-किसी मित्र के घर चण्डाल-चौकडी जुटती, भग छनती, मिठाइया उडती! फिर हम लोग काव्य-गगा मे अवगाहन करने लगते। शाम को जो बैठते तो आधी रात के बाद ही उठते! एक दिन हम छत पर बैठे थे। लगता था, काव्य-गगा आकाश-गगा से जा मिली हो!

फिर असहयोग का युग आया। मैने पढना छोडा, शिवजी ने पढाना छोडा। बारीक कपडे के कुर्ते और पल्ले की टोपी की जगह खादी का लिबास। किन्तु वह रुखडा लिबास भी उनपर कितना फबता! उसी समय उनका 'बिहार का बिहार' निकला। जब मैने 'बिहारी सत्सई' की टीका लिखी तो उसके लिए उन्होने 'सत्सई का सौष्ठव' शीर्षक से भूमिका लिख दी।

आरा मे एक मारवाड़ी युवक थे, नाम था हरद्वारप्रसाद जालान। धनी आदमी थे, साहित्य की ओर पूरी रुचि थी। असहयोग के बाद उन्होने शिवजी के सम्पादकत्व मे 'मारवाडी-सुधार' नामक मासिक पत्र निकाला। यो तो वह मासिक पत्र मारवाडी समाज से सम्बन्ध रखता था, किन्तु जिसके सम्पादक शिवजी हो, उस पत्र मे साहित्यिकता का पुट न हो, यह कैसे सम्भव था! 'मारवाडी-सुधार' साहित्यिको का भी गलहार था। बहुत सुन्दर छपता। शिवजी छापे की अशुद्धियो के शत्रु हैं। उनके द्वारा सम्पादित पत्र-पत्रिकाओ मे सदा यह खूबी रही है कि उनमे छापे की अशुद्धियाँ नही रह पाती। 'मारवाडी-सुधार' छपाई और शुद्धता की दृष्टि से भी अनुपम था।

'मारवाडी-सुधार' के सिलसिले मे ही शिवजी कलकत्ता आने-जाने लगे। वहा स्व० महादेवप्रसाद सेठ और मुशी नवजादिकलालजी से उनकी घनिष्ठता बढी और इस घनिष्ठता का सुन्दर फल था—'मतवाला'।

'मतवाला'—हिन्दी का वह हास्यप्रधान साप्ताहिक, जिसके जोड का पत्र क्या अबतक निकल सका ? 'मतवाला' ने सारे हिन्दी-ससार धूम मचा दी थी। उसके मुखपृष्ठ पर निरालाजी की कविताए छपती ! मुखपृष्ठ की उन कविताओ ने हिन्दी मे एक नये युग के आरम्भ की सूचना दी। 'मतवाला' की पक्ति-पक्ति से हास्य और विनोद की अजस्र धारा फूटती। उसकी 'चलती चक्की' के पाटो के बीच जो पडा, वह गया। देश की राजनैतिक, सामाजिक, साहित्यिक घटनाओ पर ऐसे चुटकुले छपते कि वे तुरन्त ही जबान-जबान की चीज बन जाते। 'मतवाला' किसी को क्षमा न करता और ऐसा कौन था जो उसकी 'चाबुक' की चोट से तिलमिला न उठता ! उसके हर अक को लोग घोल-कर पी जाना चाहते। उसके आगामी अक की प्रतीक्षा की जाती। एजेटो के बडल खुले नही कि लूट मच जाती। एक-एक के हाथ से छीन-कर दस-दस पढते !

शिवजी 'मतवाला'-मडल मे रास रचा रहे थे, मैं बिहार के टुट-पुजिये पत्रो के दफ्तरो मे अपनी ठेलागाडी घसीटे जा रहा था कि अचानक मै दमे के रोग से आक्रान्त हुआ और मरते-मरते बचा। अपने देहात के गाव से ही मैने शिवजी को पत्र लिखा। तुरन्त ही उनका कार्ड मिला। साधारण पोस्टकार्ड पर लाल रोशनाई से उन्होने लिखा था कि पत्र पाते ही पटना आओ, अमुक स्थान पर पहुचकर इस तरह मुड़ना और सामने थोडी दूर जाकर अमुक का नाम पूछना। तुम्हारे लिए एक काम सोच लिया है, वही बताऊगा। शिवजी के एक दोस्त थे, जो पटना से 'गोलमाल' नामक एक हास्यप्रधान-पत्र निकालना चाहते थे। मै पटना पहुँच कर शिवजी से मिला। उन्होने उसके लिए सारे शीर्षक ठीक कर दिये, पहला सम्पादकीय लिख दिया और कलकत्ता लौट गये।

मैने उनके बताये रास्ते पर चलना शुरू कर दिया। हर सप्ताह वह एक लम्बा पत्र भेजते, प्रेस मैटर लिखने के लिए कटे लम्बे-लम्बे स्लिप पर, लाल रोशनाई से। कोई-कोई पत्र सात-आठ पृष्ठो के होते। पत्र के साथ ही 'गोलमाल' मे पिछले अक को उसी लाल रोशनाई से गोद-गाद कर भेज देते और पत्र मे बताते कि कहा मैंने भूल की, कहाँ हल्की

चीज गई, कहा फालतू चीज दी गई। मेरी त्रुटियो को ही न बताते, मुझे उत्साहित करने के लिए बडी शाबासी देते और मेरे उज्ज्वल भविष्य का सुनहला स्वप्न दिखाते ! मैं कह सकता हू, उन पत्रो से ही मैंने सम्पादन और लेखनकला का गुरुमुख ज्ञान प्राप्त किया और उनके उत्साहप्रद वाक्यो ने ही मुझमे वह आत्मविश्वास भर दिया कि आज जहा हूँ, उसे शिवजी का प्रसाद मानता हू !

'मतवाला'-मडल से शिवजी 'माधुरी' मे गये। नवलकिशोर प्रेस की साधन-सम्पन्नता और श्री दुलारेलाल भार्गव की कर्मठता के कारण उन दिनो 'माधुरी' हिन्दी की सबसे प्यारी पत्रिका बन गई थी। शिवजी के सहयोग ने 'माधुरी' मे मिश्री घोल दी, किन्तु शायद विधाता को यह सहयोग पसन्द न था। लखनऊ मे हिन्दू-मुस्लिम दगा हुआ। शिवजी किसी प्रकार जान बचाकर अपने घर पहुँचे, किन्तु कितनी अमूल्य निधियाँ चिट्ठियो और पाण्डुलिपियो के रूप मे गँवाकर ! लगता था, शिवजी सदा के लिए टूट गए !

शिवजी को उनके मित्र फिर घसीटकर कलकत्ता ले गये। इधर मैं लहरियासराय पहुँचा और वहाँ से कई साहित्यिक पुस्तक-मालाएं निकालना प्रारम्भ किया। फिर 'बालक' निकालने की योजना बनाकर कलकत्ता पहुँचा। स्वभावत ही सोचा, शिवजी से सलाह-मशविरा करलूं, वही चित्रादि बनवाऊ और सम्भव हो तो वही छपवाऊ भी। 'मतवाला' तब भी प्रकाशित हो रहा था, किन्तु उसका मडल बिखर चुका था, वह श्रीहीन हो चला था। अकेले शिवजी उसके बोझ को किसी तरह ढो रहे थे। हिन्दी-पुस्तक-एजेसी से 'उपन्यास-तरग' नामक एक मासिक पत्र निकलता, जिसके सम्पादक के स्थान पर शिवजी का नाम रहता। कलकत्ता की एक गन्दी गली मे एक छोटा-सा कमरा लेकर शिवजी रहते—उनकी रुग्ण पत्नी भी साथ थी, जो इस अवस्था मे भी घर के सारे काम-काज अपने हाथो सम्हालती थी।

मैं शिवजी को इस स्थिति मे देखकर दग रह गया। होठो पर वही मुस्कान, किन्तु चेहरे की वह चमक कहा गई ? अब भी खिलखिलाकर हँसते, किन्तु उस हँसी में वह आतरिक उल्लास कहां ? काम का बोझ

इतना कि सवेरे से शुरू करते तो दो-दो बजे रात तक मोमबत्ती जला-जला कर खटते रहते। मैंने मन-ही-मन तय किया, शिवजी का इस स्थिति से उद्धार करूँगा। 'बालक' का पहला अक निकालकर लहरियासराय लौटा और हिन्दी-पुस्तक-भण्डार के सचालक से बाते की। 'बालक' की छपाई का प्रबन्ध काशी के ज्ञानमडल प्रेस मे किया और शिवजी को जैसे-तैसे मनाकर काशी ले आया।

काशी के वे दिन! काल-भैरव के ऊपर का वह दोतल्ला मकान—हमारे हँसी-ठहाके से सारा मुहल्ला गूँजता। प्रेमचन्दजी, प्रसादजी, लाला भगवानदीनजी, हरिऔधजी, रामदास गौड, रामचन्द्र वर्मा आदि बुजर्गो की सगति के साथ बेढब, सुमन, लक्ष्मीनारायण मिश्र, मनोरजन, उग्र, शान्तिप्रिय आदि नौजवानो की टोली का सुखद साहचर्य! शिवजी फिर खिलने लगे। भाभी चल बसी तो शिवजी की नई शादी कराई। शिवजी की वह बरात! काशी की गहरी बूटी छानकर डगमग पैरो से हमने अपने अनुपम दूल्हे के साथ बरात दरवाजे लगाई, अटशट बका किये, जिसका फल यह हुआ कि विदाई के समय मुश्किल से अपनी खोपडी बचा सके!

हा, शिवजी को यथार्थत पार्वती मिली। उन्होने उनके घर को ही नही सम्हाला, उन्हे दो पुत्रिया और दो पुत्र दिये! यह तीसरी भाभीजी भी अब नही रही, किन्तु शिवजी का घर तो भरा-पूरा छोड ही गई हैं!

लहरियासराय से हटकर मै पटना आया और 'युवक' के साथ ही राजनीति मे पूरा रग गया, किन्तु शिवजी वही रह गए। फिर मेरा जेल-जीवन का चक्कर शुरू हुआ, किन्तु जब कभी बाहर रहता, शिवजी को प्रणाम कर आता। शिवजी ने सदा स्नेह की वर्षा की और मेरी तथा मेरे परिवार की शुभकामना करते रहे। उनकी शुभकामना सदा सुफलदायिनी रही है, यह मैं निस्सकोच कह सकता हू।

कुछ नवयुवको ने छपरा मे एक कालेज खोला, जिसका नामकरण वर्तमान राष्ट्रपति के नाम पर 'राजेन्द्र कालेज' किया गया। उन नवयुवको ने चाहा कि उसके हिन्दी-विभाग मे शिवजी को ले जाय, किन्तु दिक्कत यह थी कि उन दिनो तक पटना-विश्वविद्यालय का अध्यापक वही हो

सकता था जो एम ए हो। उन नौजवानो ने दौड-धूप की और सबसे पहली बार शिवजी के लिए ही विश्वविद्यालय ने इस नियम को ढीला किया। तब से तो रास्ता ही खुल गया और हिन्दी के कितने ही लेखक और कवि कालेजो मे प्रोफेसर और प्रिंसिपल बनाये गए।

जब १९४६ मे मै पूर्णत कारामुक्त हुआ, बिहार से एक अच्छा साहित्यिक मासिकपत्र निकालने की धुन मे लगा। मेरा प्रयत्न सफल हुआ और बडे ठाटबाट से 'हिमालय' निकला, जिसके सम्पादकद्वय मे शिवजी और मेरा नाम छपा। 'हिमालय' के सम्पादक के रूप मे शिवजी की साहित्यिक प्रतिभा की पूरी झलक हिन्दी-ससार को मिली, यद्यपि उनकी सेवाओ से तो हिन्दी-ससार पूर्णत परिचित था ही। दुख की बात है, 'हिमालय' भी असमय मे ही तिरोहित हो गया। शिवजी फिर अध्यापन मे लग गए।

इसी समय बिहार मे 'राष्ट्रभाषा परिषद' की स्थापना की बात चली। हिन्दी के कई ख्यातिनामा दिग्गज विद्वानो से उसके मन्त्रित्व के लिए पत्राचार होने लगे। किन्तु अन्त मे शिवजी को ही इस पद के लिए वरण किया गया।

मैं ही यह दावा नही करता, सभी जानकार लोगो ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है कि पाच-छः वर्ष की छोटी अवधि मे ही, शिवजी के मन्त्रित्व मे, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद ने हिन्दी की जो सेवाए की हैं, वे अनुपम हैं। लगभग दो दर्जन अच्छे-से-अच्छे प्रामाणिक ग्रन्थ निकाले गए हैं, हिन्दी ससार के जाने-माने विशेषज्ञ विद्वानो से सपुरस्कार भाषण दिलाये गए हैं, उत्तमोत्तम पुस्तको को पुरस्कृत किया गया है, वयोवृद्ध साहित्य-सेवियो को पन्द्रह-पन्द्रह सौ रुपयो की थैली के साथ सम्मानित किया गया है, होनहार लेखको और विद्यार्थियो को उत्साहित करने के लिए उन्हे अच्छी रकमे पुरस्कार-स्वरूप दी गई हैं। हिन्दी-सस्थाओ को तथा सकट-ग्रस्त साहित्यिको को सहायता देने का भी सिलसिला कायम किया गया है। भिन्न-भिन्न भाषाओ के विद्वानो को बुलाकर, उनसे उनकी भाषाओ पर भाषण दिलवाकर तथा उन्हें योग्य सम्मान देकर

विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद ने हिन्दी मे एक विल्कुल नई परम्परा ही स्थापित की है।

विहार राष्ट्रभापा परिषद् के मन्त्रित्व काल मे ही अचानक शिवजी बीमार पडे और डाक्टरो ने उस बीमारी को राजयक्ष्मा घोपित किया। मै कही वाहर था। जब लौटा तो पाया, वह अस्पताल मे हैं और ऐसी सगीन हालत है कि कभी भी हमे छोडकर महाप्रस्थान कर सकते हैं। किन्तु हमारा सौभाग्य कि थोडे ही दिनो मे शिवजी की स्थिति सुधर गई। उस सघातक रोग से मुक्त होकर वह फिर परिषद की सेवा मे तत्पर हैं।

शिवजी की तरह शब्दो का शिल्पी हिन्दी-ससार मे शायद ही कोई हो। भाषा की विशुद्धता के तो वह आचार्य हैं। यही कारण है कि जव काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने प० महावीरप्रसाद द्विवेदी को अभिनन्दन ग्रन्थ अर्पित करने का निर्णय किया तो उस ग्रन्थ का सम्पादन-भार शिवजी को ही सौपा गया। राष्ट्रपति श्रद्धेय राजेन्द्रवावू की 'आत्म-कथा' हिन्दी-ससार के सम्मुख आने के पहले शिवजी की लेखनी के नीचे से गुजरी। एक युग तक विहार से जो भी अच्छी पुस्तके निकली, वे शिवजी की लेखनी का प्रसाद पाती रही।

शिवजी की तरह सुन्दर लिपि लिखनेवाले हिन्दी-ससार मे कम ही मिलेंगे। अपने सम्पादक-जीवन मे मैंने सव आचार्यो की लिपिया देखी हैं, प र ऐसे गोल-गोल सुडौल मोती के दाने-से अक्षर अन्यत्र नही मिले। जल्दी-जल्दी मे लिखे, उनके सात-आठ पृष्ठो के पत्र देखे हैं, किन्तु कही काट-कूट का नाम नही! मानो उनके विचार, भापा और लिपि मे तदात्मता स्थापित हो चुकी हो!

परिश्रमशीलता का यह हाल कि अव, जवकि उनकी काया जर्जर हो चुकी है, आखो ने वहुत-कुछ ज्योति खो दी है, थोडा घूमने के वाद भी वह अशक्तता का अनुभव करते हैं, जोर से वोल भी नही सकते, तो भी दिन-रात काम मे अपने को जोते रहते हैं—यद्यपि सभी चाहते हैं कि वह पूर्ण विश्राम करें। उनकी उपस्थिति ही परिपद के लिए वहुत है। परिपद के सचालक-मण्डल ने भी उनसे वार-वार कहा, किन्तु कौन सुनता है? कार्य ही उनका जीवन वन गया हो जैसे!

मील के पत्थर

लगभग चालीस वर्ष से शिवजी बिहार के साहित्यिक इतिहास के लिए सामग्री सकलित करने मे लगे थे। सुयोग्य सहायको की सहायता से आजकल उसे ग्रन्थ का रूप देने मे जुट पडे हैं। तीन खण्डो मे पूर्ण होने वाला यह ग्रन्थ बिहार के लिए गौरव-ग्रन्थ होगा, इसमे सन्देह नही।

शिवजी शतायु हो!

: १५ :

कोई हँसना इनसे सीखे ?

मानव-वश की विशेषताग्रो मे हसी की भी गिनती होती है। सभी प्राणियो मे मनुष्य ही हँसता है, ऐसा लोगो का विश्वास रहा है। यद्यपि इस धारणा का खडन श्री जगदीशचन्द्र बसु के प्रयोगो ने कर दिया है और अब माना जाने लगा है कि जीव-जन्तु की क्या वात, पेड-पौधे भी हँसते हैं। किन्तु तो भी मनुष्य की हँसी, उनकी अन्य कई खूबियो की तरह, कुछ और ही है। उच्च अट्टहास से लेकर मधुर मुस्कान तक, हास्य की एक ऐसी सरणी उनके जीवन से जुडी है कि जब-जब उनकी कल्पना कीजिए, विस्मय-विमुग्ध हो जाना पडता है। जीव-जन्तु के जीवन मे भी हास्य की धारा प्रवाहित होती होगी, पेड-पौधो के रेशो मे भी गुदगुदी दौडती होगी, मानता हू। किन्तु कभी जोरो का ठहाका लगाकर छतो को हिला देना, कभी खिलखिलाहट से सारे कमरे को फूलो की सुवास से भर देना और कभी हल्की मुस्कराहट से किसी के दिल को जीत लेना, यह वरदान तो मनुष्य को ही मिला है।

और, यदि यह वरदान है तो हम मानवो मे, जिनमे कुछ लोगो पर इसकी अजस्र वर्षा की गई, उनमे स्वर्गीय पडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का नाम पहली पक्ति मे लिखा जायगा। जैसी उन्मुक्त हँसी मैंने चतुर्वेदीजी मे पाई थी, वैसी हँसी अन्यत्र नही मिली। चतुर्वेदीजी को उनके जीवन मे ही 'हास्यरसावतार' की उपाधि हिन्दी ससार ने सर्वसम्मति से दे रखी थी। वह जहा भी रहते, हँसी की फुलझरिया छूटती रहती। जिस साहित्य-गोष्ठी मे वह पहुच जाते, वहा का सारा वातावरण ही हास्य-रस से ओतप्रोत हो जाता। जहा चतुर्वेदीजी हो, वहा मनहूसियत रह नही सकती थी।

प्रकृति ने उन्हे ऐसा रूप दिया था, जिसपर हँसी वैसी ही खिलती थी, जैसी कुमुद वन मे शरद की शुभ्र चादनी खिलती है। गोरा-चिट्टा

चेहरा, सजे-संवारे वाल, सिर पर कलगीदार मुरेठा, पतली भवो के नीचे हँसती हुई आखे, उनपर सुनहले फ्रेम का चश्मा, काली मूछे, पक्तिबद्ध चौकोर, चमकीले दात, छोटी ठुड्डी—मैने १६१८ मे, जबकि वह बिहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन का सभापतित्व कर रहे थे, उन्हे इस रूप मे देखा था। सभापति को गम्भीर होना चाहिए, यह धारणा तो आजतक वनी हुई है, किन्तु जब चतुर्वेदीजी अगणित मालाओ से लदे, अपना सभापति का भाषण सुनाने को उठे, और, एक मन्द मुस्कराहट से, सोनपुर मेले मे आये किर्लोस्कर नाटक भवन के उस विशाल हॉल मे ठसाठस भरे हुए प्रतिनिधिओ और दर्शको की ओर देखा तो ऐसा लगा कि सवके हृदय का वह तार छू गया, जो आनन्द की लहर दौडा देता है और जव उन्होने भाषण शुरू किया तो लोग भाव-विमुग्ध ही नही बने रहे, बल्कि वीच-वीच मे सभाभवन अट्टहास मे गुजित होता रहा।

इसके थोडे दिनो के वाद ही मुझे कलकत्ता जाने का सुअवसर मिला और अपनापे का ख्याल कर मैने चतुर्वेदीजी के साथ ठहरने का वचपना कर लिया। वहा देखा, उसका घर भी सदा हँसी से गुजायमान होता रहता। अपने मित्रो और समवयस्को से ही नही, वच्चो और घर के नौकरो से भी चुहले करने से वह न चूकते और वह घटना तो लिपि-वद्ध हो चुकी है कि किस प्रकार एक दिन उनकी धर्मपत्नी अपने दोनो वेटो को वडे प्रेम से खिला रही थी और वह तालिया वजाकर गा रहे थे—

कल्लू-मल्लू दोनो भाई वैठ प्रेम से खाते हैं,
वैठी माता खिला रही है, खड़े पिताजी गाते हैं।

उनके लेखो मे, कविताओ मे भी हँसी और विनोद का पुट सर्वत्र मिला करता था। 'भारतमित्र' में एक स्थायी शीर्षक के अन्तर्गत वह सदा 'मौजीराम' के नाम से चुटकुले लिखते थे। उन चुटकुलों को पढने के लिए भी लोग 'भारतमित्र' खरीदते थे। हिन्दी साहित्य मे विनोद का ऐसा कोई प्रसंग नही आता था, जो चतुर्वेदीजी के विनोदी नेत्रो मे वच जाय।

उस समय भी हिन्दी शैली की दो धाराए चलती थी, एक संस्कृत-निष्ट जिनके आचार्य द्विवेदीजी थे और एक जनसाधारण की वोली से

मिलीजुली जिसके आचार्य थे बालमुकुंद गुप्त, 'भारतमित्र' के सम्पादक। स्वर्गीय चतुर्वेदी श्री गुप्तजी के सहयोगी थे और श्री श्यामसुन्दरदासजी द्विवेदीजी के समर्थक। द्विवेदीजी उस समय 'सरस्वती' का सफल सम्पादन कर रहे थे, जिसके जोड का सम्पादन आजतक किसी पत्र-पत्रिका का नही देखा। द्विवेदीजी ने अपनी पत्रिका मे श्यामसुन्दरदासजी का चित्र छापा और उनके नीचे यह पद्य लिखा—

मातृभाषा के विशारद विमल बी० ए० पास
सौम्य शील निधान बाबू श्यामसुन्दरदास !

इस पद्य की पैरौडी किये बिना स्वर्गीय चतुर्वेदीजी किस तरह रह सकते थे और सबसे ऊचा हास्य तो वह है जो अपने ऊपर किया जाय ! चतुर्वेदीजी ने झट अपने बारे मे यह छपवाया—

पितृभाषा के बिगाड़क सफल एफ० ए० फिस्स।
जगन्नाथप्रसाद वेदी बीस कम चौब्बिस—

वेदी बीस कम चौब्बिस, याने चतुर्वेदी !

छेडखानी करने मे तो चतुर्वेदीजी लासानी थे। एक बार कलकत्ता मे बगीय साहित्य सम्लेलन के उत्सव पर एक बगाली विद्वान ने यह कह दिया कि बगला भाषा जैसी काव्यमयी भाषा कोई है ही नही और उदाहरण मे बताया कि किस तरह उसमे स्वाभाविक अनुप्रासो की भरमार है। कलकत्ता मे कही गई इस बात को कलकत्ता मे रहते हुए चतुर्वेदीजी किस तरह बर्दाश्त कर सकते थे ! झट एक लेखमाला ही शुरू कर दी 'अनुप्रास का अन्वेषण', जिसमे यत्रतत्रसर्वत्र अनुप्रास की भरमार खोज निकाली। अनुप्रास से उन्हे बहुत अनुराग भी था। अपनी साधारण चिट्ठियो मे भी वह सदा अनुप्रासमय भाषा लिखा करते थे और उनका 'ब की बहार' वाला लेख तो बहुत प्रचलित है ही, जिसे उन्होने यो शुरू किया था—"बाकीपुर की बाकरगज मे बनवारी नाम का एक बनिया था।" पूरे चार पृष्ठो का वह लेख 'बकार' से ही भरा पडा है।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन का कोई अधिवेशन ऐसा नही होता था, जिसमे वे सम्मिलित नही होते थे और सभापति के चुनाव का प्रस्ताव प्रायः वही रखते थे। उस अवसर पर एक ऐसा छोटा-सा भाषण देते थे

कि लोग लोटपोट हो जाते थे। यो जबतक वह जीवित रहे, सम्मेलन का शुभारम्भ हँसीखुशी से ही होता था। इन भाषणो मे सभापति के नाम को लेकर भी कुछ चुटकुले जरूर कसते थे। जब प० मदनमोहन मालवीय सभापति हुए तो उनके नाम की अनेक व्याख्याओं के साथ एक व्याख्या यह भी की, मद न, मोह न—जिसमे न मद हो, न मोह।

जब चतुर्वेदीजी सम्मेलन के लाहौर अधिवेशन के सभापति चुने गए तो अपने भाषण मे हिन्दी व्याकरण की त्रुटियो पर विशेष ध्यान दिया। भाषा और मुहावरे की शुद्धता के लिए चतुर्वेदीजी हमेशा चौकस रहते थे और उनमे जरा भी त्रुटि बर्दाश्त नही करते थे। इस भाषण को पढकर प० नाथूराम शकर शर्मा ने कुछ दोहे लिखे। भाषण मे चतुर्वेदीजी ने स्वरचित एक व्रजभाषा की कविता दी थी, जिसमे जग-नाथ (जगन्नाथ नही) का प्रयोग हुआ था। महाकवि शकर ने लिखा,

हिन्दी का व्याकरण है, अभिभाषण के साथ,
मौजी मौज समाज से, सिद्ध हुआ 'जगनाथ'।

शकर के इस पद्य से चतुर्वेदीजी का ब्रह्म जगा। उन्होने लिखा—

शंकर अब सठिया गया भूल गया है ज्ञान,
जगन्नाथ के भात का करता है अपमान।

बात बढी। पद्य-पर-पद्य गढे जा रहे थे। यह प्रसग कुछ ऐसा तीखा होने लगा तो दोनो के मित्रो ने बीचबिचाव कर इसे बंद किया।

किन्तु, सच बात तो यह है कि चतुर्वेदीजी के हृदय मे कही कटुता थी ही नही। 'मौजी' उपनाम उन पर सोलह आने फबता था। वह सफल अभिनेता भी थे। चेहरे पर तरह-तरह का मोड़ देना उनके लिए बहुत आसान था। कलकत्ता-सम्मेलन के अवसर पर जब उनका 'समाज' नामक नाटक खेला गया तो उसमें चतुर्वेदीजी ने स्वय भी पार्ट लिया।

हमारे पूर्वजो की वह उन्मुक्त हँसी और जिन्दादिली हमारे जीवन में उतरे और हमारे अनुवर्ती उनका अनुसरण करें, यही हमारी कामना है!